दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष ११ | जनवरी १९६५ | अंक १

सम्पादक :
यशदेव शल्य

सम्पादक मंडल :
न. कि. देवराज
अ. ग. जावडेकर
राजेन्द्र प्रसाद

विषय सूची

लेख	लेखक	पृष्ठ
गोष्ठी		
सर्वज्ञता के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण - - - - - -	कैलाशचन्द्र	१
- - - - - - - - - - - - - -	दरबारीलाल जैन कोठिया	७
- - - - - - - - - - - - - -	रामजीसिंह	१७
प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप - - - - - - - - - -	नवजीवन रस्तोगी	३५
अवधारणा कोटि–भ्रम : एक विश्लेषण - - - - -	अनिरुद्ध झा	५१
सार्त्र की नास्तिकता : एक मूल्यांकन - - - - - -	बसन्तकुमार लाल	५९
नैतिक विश्लेषण के माडल - - - - - - - -	रमाशंकर मिश्र	६७
पुस्तक समीक्षा		
प्रोसीडिंग्ज़ ऑफ दिल्ली फिलोसीफीकल कोलोक्वियम - - - -	रमेशचन्द्र	७१
हृ० ना० मिश्र–मॉरल फिलोसोफी : गीता एंड ग्रीन - - - -	संगमलाल पांडेय	७५
ब्रजगोपाल तिवारी–सेक्युलरिज़म एंड मैटीरियलिज़म इन माडर्न इंडिया -	चांदमल शर्मा	७८
आद्यप्रसाद श्रीवास्तव–सामान्य मनोविज्ञान - - - - - -	राममूर्ति लूम्बा	८२

अखिल भारतीय दर्शन परिषद्

फरीदकोट

वार्षिक शुल्क रु० १०=००

एक अंक का मूल्य रु० ३=००

दार्शनिक त्रैमासिक

वर्ष ११ जनवरी १९६५ अंक १

गोष्ठी

सर्वज्ञता के सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण*

कैलाश चन्द्र

वैदिक दर्शनों में मीमांसक सर्वज्ञ की सत्ता को स्वीकार नहीं करता, शेष वैदिक दर्शन स्वीकार करते हैं। किन्तु श्रमण परम्परा के अनुयायी सांख्य, जैन तथा बौद्ध सर्वज्ञता को स्वीकार करते है। श्रमण परम्परा के अनुयायी दर्शन मूलतः अनीश्वरवादी हैं किन्तु मीमांसक के सिवाय शेष वैदिक दर्शन ईश्वरवादी हैं। ईश्वरवादी ईश्वर को जगत की उत्पत्ति में निमित्त कारण मानते हैं और क्योंकि ईश्वर जगत की रचना करता है इसलिये उसे समस्त कारकों का ज्ञान होना आवश्यक है। अतः वे अनादि-अनन्त ईश्वर की सर्वज्ञता को भी अनादि अनन्त मानते हैं, अन्य जो आत्मा सर्वज्ञ होकर मुक्त होते हैं मुक्त होते ही उनका ज्ञान लुप्त हो जाता है; अतः ईश्वर मुक्तात्माओं से विलक्षण है। निरीश्वरवादी दर्शनों में बौद्ध तो अनात्मवादी है, फिर भी वे बुद्ध को जीवन्मुक्तावस्था में सर्वज्ञ मानते हैं। सांख्य ज्ञान को प्रकृति का धर्म मानता है अतः मुक्तावस्था में ज्ञान नहीं मानता, किन्तु जैन दर्शन मुक्त जीव की भी सर्वज्ञता को स्वीकार करता है। क्योंकि उसमें चैतन्य को ज्ञान-दर्शनमय माना है।

यहां स्पष्टीकरण के लिये जैन तत्त्व व्यवस्था पर थोड़ा प्रकाश डाल देना उचित होगा। जैन दर्शन में एक द्रव्य पदार्थ ही माना गया है और उसे इस रूप में माना गया है कि उसके मानने पर दूसरे पदार्थ के मानने की आवश्यकता नहीं रहती। गुण और पर्याय के आधार को द्रव्य कहते हैं। ये गुण और पर्याय द्रव्य के ही आत्म स्वरूप हैं इसलिये ये कभी भी द्रव्य से जुदा नहीं होते। द्रव्य के परिणत होने की अवस्था को पर्याय कहते हैं जो प्रतिक्षण बदलती रहती है, जिससे द्रव्य रूपान्तर में परिवर्तित होता रहता है। जैसे गोरस दूध, दही, घी आदि पर्यायों से जुदा नहीं है वैसे ही द्रव्य अपनी पर्यायों से जुदा नहीं है और पर्याय भी

---

*अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के दशम वार्षिक अधिवेशन में आयोजित गोष्ठी में पठित।

द्रव्य से जुदा नहीं हैं, क्योंकि पर्याय से रहित द्रव्य नहीं होता और द्रव्य से रहित पर्याय नहीं होती। इसी तरह द्रव्य के बिना गुण नहीं होते और गुणों के बिना द्रव्य नहीं होता। इस लिये द्रव्य गुणपर्यायात्मक होता है। जिसमें प्रदेशभेद होता है उसे भिन्न कहते हैं। द्रव्य और गुण के प्रदेश जुदे जुदे नहीं हैं। जो द्रव्य के प्रदेश हैं वे ही गुण के प्रदेश हैं और जो गुण के प्रदेश हैं वे ही द्रव्य के प्रदेश हैं। यदि कदाचित् बुद्धि के द्वारा एक द्रव्य से उसके समस्त गुणों को पृथक् कर लिया जाये तो द्रव्य के नाम पर शून्य ही शेष बचेगा। अतः जैन दर्शन द्रव्य–गुण का पृथक् पृथक् अस्तित्व नहीं मानता। आत्मा ज्ञान से भिन्न है और ज्ञान के समवाय से ज्ञानी है, ऐसा जैन दर्शन नहीं मानता। उसका तर्क है कि ज्ञान के समवाय से पूर्व आत्मा या तो ज्ञानी है या अज्ञानी। यदि ज्ञानी है तो ज्ञान का समवाय निष्फल है। यदि अज्ञानी है तो अज्ञान के समवाय से अज्ञानी है या अज्ञान के साथ एकत्व होने से अज्ञानी है? यदि अज्ञान के समवाय से अज्ञानी है तो अज्ञानी का अज्ञान के समवाय से क्या प्रयोजन है, वह तो स्वभाव से ही अज्ञानी है? अतः अज्ञान के साथ एकत्व होने से जैसे अज्ञानी है वैसे ही ज्ञान के साथ एकत्व होने से ज्ञानी है। जैन दर्शन समवाय नामक पदार्थ नहीं मानता। उसकी मान्यता के अनुसार द्रव्य और गुण का एक ही अस्तित्व है, पृथक् अस्तित्व नहीं है। अतः उनकी जो अनादि–अनन्त सहवृत्ति है वह जैनों का समवाय है। वही संज्ञा आदि भेद होने पर भी वस्तु रूप से अभेद होने से अपृथक् है, वही युतसिद्धि के कारणभूत भिन्न अस्तित्व का अभाव होने से अयुतसिद्धक है। अतः अनादि–अनन्त सहवृत्ति वाले द्रव्य और गुणों में अयुतसिद्धि ही है, पृथक्पना नहीं है।

द्रव्य और गुण की व्यवस्था पर प्रकाश डालने के पश्चात् हम जीव या आत्मा की ओर आते हैं। प्रत्येक द्रव्य में कुछ सामान्य गुण होते हैं और कुछ विशेष गुण होते हैं। सामान्य गुणों से द्रव्य सामान्य की सिद्धि होती है और विशेष गुणों से द्रव्य विशेष की सिद्धि होती है। आत्म–द्रव्य का विशेष गुण चैतन्य है और चैतन्य के ही भेद ज्ञान और दर्शन हैं। अतः आत्मा चैतन्यमय है, यानी ज्ञान दर्शनमय है: जानना और देखना उसका स्वभाव है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने अपने प्रवचनसार के प्रारम्भ में लिखा है कि 'ज्ञान आत्मा है' क्योंकि आत्मा के बिना ज्ञान नहीं रहता। और जो जानता है वह ज्ञान है अतः आत्मा स्वयं ज्ञान है, जैसे अग्नि स्वयं उष्ण है। जैसे उष्णता के बिना अग्नि का अस्तित्व नहीं वैसे ही ज्ञान के बिना आत्मा का अस्तित्व नहीं। अतः आत्मा ज्ञानमय है।

जब आत्मा स्वयं ज्ञानमय है, जानने वाला है, तो उसे जानने के लिये किसी की सहायता की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि वस्तु का वास्तविक स्वरूप वही कहा जाता है जो परनिरपेक्ष हो। अतः इन्द्रियादि की अपेक्षा के बिना स्वतः प्रकट हुआ ज्ञान ही आत्मा का वास्तविक गुण है। किन्तु वह स्वाभाविक ज्ञान–गुण संसार अवस्था में जीव के अपने कर्मों के कारण वैसे ही आवृत हो रहा है जैसे वर्षा ऋतु में सूर्य का प्रकाश मेघपटल से आवृत हो जाता है और मेघपटल के हटते ही प्रकट हो जाता है। जबतक ज्ञान आवृत रहता है

तबतक उसकी उत्पत्ति में इन्द्रिय आदि सहकारि कारणों की अपेक्षा रहती है, निरावृत होने पर वह केवल आत्म-सहाय-सापेक्ष होता है; इसी से उसे केवल ज्ञान कहते हैं।

जैन दर्शन में केवल को ही पारमार्थिक प्रत्यक्ष माना गया है। प्रत्यक्ष में अक्ष शब्द का अर्थ आत्मा लिया जाता है "अक्षम्-आत्मानं प्रतिनियतं प्रत्यक्षम्।" जो ज्ञान केवल आत्मा से ही होता है वह प्रत्यक्ष है और जो पर अर्थात् इन्द्रियादि की सहायता से उत्पन्न होता है वह परोक्ष है। जैन आगमिक परम्परा में इन्द्रियजन्य ज्ञान को परोक्ष कहा है। किन्तु जैन तार्किक परम्परा में उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम दे दिया गया; क्योंकि सभी दर्शन इन्द्रिय जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष मानते थे अतः जैन तार्किक अकलंकदेव ने उसे सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष नाम दिया, अर्थात् जो बतलाता है कि इन्द्रियजन्य ज्ञान व्यवहार में प्रत्यक्ष माना जाता है परन्तु वह वास्तव में प्रत्यक्ष नहीं है, वास्तविक या पारमार्थिक प्रत्यक्ष तो केवल-ज्ञान ही है जो केवल आत्माधीन है, पराधीन नहीं है।

उस पारमार्थिक प्रत्यक्ष केवल-ज्ञान का विषय सब द्रव्य और सब द्रव्यों की सब पर्याय बतलाया है। (तत्त्वार्थ सूत्र १।) अतः केवल ज्ञानी को सर्वज्ञ कहा है।

सर्वज्ञता का तार्किक दृष्टि से समर्थन सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द के प्रवचनसार के प्रथम अधिकार में किया गया है। उनका समय प्रथम-द्वितीय शताब्दी है। उन्होंने लिखा है—

णत्थि परोक्खं किंचि वि समंत सव्वक्ख गुण समिद्ध।
अक्खातीदस्स सदा सयमेव हि णाण जादस्स ॥२२॥

केवली भगवान् से कुछ भी पदार्थ परोक्ष नहीं है, क्योंकि वे अतीन्द्रिय ज्ञानी हैं, उनकी आत्मा सब इन्द्रियों के गुण-स्पर्श आदि को जानने की शक्ति से समृद्ध है और स्वयं ही ज्ञान रूप है।

जदि पच्चक्खमजायं पज्जायं पलइयं च णाणस्स।
ण हवदि वा तं णाणं दिव्वं ति हि के परूवेंति ॥३९॥

यदि केवल ज्ञान अनागत पर्याय और अतीत पर्यायों को प्रत्यक्ष नहीं जानता तो उसे दिव्य ज्ञान कौन कहता।

अपदेसं सपदेसं मुत्तमुत्तं च पज्जपमजादं।
पलयं गयं च जाणदि तं णाणम दिं दियं भणियं॥४१॥

जो ज्ञान अप्रदेशी को, सप्रदेशी को, मूर्त को, अमूर्त को, अनागत पर्याय को जानता है उस ज्ञान को अतीन्द्रिय कहा है।

जैन दर्शन आत्मा को व्यापक नहीं मानता, शरीर परिमाण मानता है, फिर भी उसे सर्वज्ञ मानता है। और सर्वज्ञ होने के कारण ज्ञान रूप से उसे सर्वगत मानता है। यथा—

सव्वगदो जिणवस हो सव्वे वि य तग्गया जगदि अट्ठा।
णाण मयादो जिणो वि सयादो तस्स ते भणिया ॥२६॥

ज्ञानमय होने से सर्वज्ञ जिन सर्वगत है, और उनके विषय होने से जगत के सब पदार्थ

उनके ज्ञान में समाविष्ट हैं।

इसी ज्ञान ज्योति की उत्तरकालीन जैन ग्रन्थकारों ने वन्दना इस प्रकार की है:

तज्जयति परं ज्योति समं समस्तैरनन्त पर्यायैः।
दर्पण तल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ मालिका यत्र ॥

वह उत्कृष्ट ज्ञान ज्योति जयवन्त है जिसमें दर्पणतल के समान समस्त पदार्थों की माला अपनी अनन्त पर्यायों के साथ प्रतिबिम्बित होती है।

उपनिषदों में एक वाक्य मैंने देखा था— 'यः आत्मवित् स सर्ववित्' जो आत्मा को जानता है वह सब को जानता है। जैन आगमों में भी कहा है —

'जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ।'

जो एक को जानता है वह सब को जानता है। जो सब को जानता है वह एक को जानता है।

कुन्दकुन्दाचार्य ने इस कथन का उपपादन करते हुए कहा है—

जौण विजाणदि जुगवं अत्थे तिक्कालिगे ति हुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेगंवा ॥
दव्वं अणंत पज्जयमेग मणं ताणि दव्व जादीणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं किध सो सव्वाणि जाणदि ॥

—प्रवचनसार गा. ४८-४९

जो त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती पदार्थों को एक साथ नहीं जानता वह समस्त पर्यायसहित एक द्रव्य को भी नहीं जान सकता। जो अनन्त पर्याय वाले एक आत्म द्रव्य को नहीं जानता वह एक साथ अनन्त द्रव्यों के समूह को कैसे जान सकता है?

इस कथन का विश्लेषण इस प्रकार है —

जैन धर्म के अनुसार मूल द्रव्य छः हैं। उनमें से आकाश द्रव्य एक है, धर्म द्रव्य एक है, अधर्म द्रव्य एक है, काल द्रव्य असंख्यात हैं, जीव द्रव्य अनन्त हैं और पुद्गल द्रव्य जीव-राशि से भी अनन्त गुणे हैं। इन द्रव्यों में से प्रत्येक की त्रिकालवर्ती अनन्त पर्यायें हैं। ये सब द्रव्य ही हैं। जैसे आग समस्त ईंधन को जलाते हुए दाह्य काष्ठ, तृण, पत्र आदि के आकारों को अपनाते हुए अपने एक अग्नि स्वभाव रूप में परिणमती है वैसे ही यह ज्ञाता आत्मा सब ज्ञेयों को जानता हुआ समस्त ज्ञेयाकार पर्याय रूप होते हुए भी परिणत ज्ञान स्वभावमय आत्मा को स्वानुभव प्रत्यक्ष जानता है। यह एक वस्तु स्वभाव है। इससे यह बात सिद्ध हुई कि जो सब ज्ञेयों को नहीं जानता वह एक आत्मा को भी नहीं जानता; क्योंकि आत्मा ज्ञानमय है और ज्ञान ज्ञेयाकार रूप है और ज्ञेय विश्व के सब पदार्थ हैं अतः सब के जानने पर ही तदाकार ज्ञानमय आत्मा का प्रत्यक्ष हो सकता है और विश्व ज्ञेयाकार ज्ञानमय आत्मा के जानने पर विश्व के ज्ञेयों को जान सकता है। अतः आत्मा का जानना और सब का जानना यह एक ही तस्वीर के दो पहलू हैं। दोनों में वास्तव में कोई अन्तर नहीं है। यह तो मैंने जैन आगमिक साहित्य की मान्यता के अनुसार सर्वज्ञता का दिग्दर्शन कराया।

जब आत्मा की सर्वज्ञता की चर्चा आगमिक मात्र न रह कर तर्क के क्षेत्र में अवतरित हुई तब प्रख्यात जैन तार्किक समन्त भद्र ने अनुमान प्रमाण से सर्वज्ञता की सिद्धि इस प्रकार की—

सूक्ष्मान्तरित दूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ संस्थितिः ॥

सूक्ष्म पदार्थ परमाणु वगैरह, अन्तरित पदार्थ राम–रावण वगैरह और दूरवर्ती पदार्थ सुमेरु वगैरह किसी के प्रत्यक्ष हैं, अनुमेय होने से, जैसे अग्नि । इस प्रकार सर्वज्ञ की सम्यक् स्थिति होती है ।

ऐसा प्रतीत होता है कि किसी व्यक्ति को सर्वज्ञ सिद्ध करते हुए समन्त भद्र के सामने शावर भाष्य का वह वाक्य था जिसमें कहा गया है कि वेद से भूत, भविष्यत्, और वर्तमान पदार्थों का ज्ञान हो सकता है । क्योंकि समन्त भद्र के द्वारा सिद्ध की गई आत्मा की सर्वज्ञता पर कुमारिल ने जोरदार आक्रमण किया, (कुमारिल की मुख्य आपत्ति धर्मज्ञता पर थी) क्योंकि धर्म के सम्बन्ध में वेद का ही मात्र प्रामाण्य उन्हें मान्य था, इसी से मनुष्य की सर्वज्ञता का खण्डन करने के बाद अन्त में उन्होंने कहा—

धर्मज्ञत्व निषेधस्तु केवलो ऽत्रोपयुज्यते ।
सर्वमन्यद्विजानस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥

यहां केवल धर्मज्ञता के निषेध से प्रयोजन है । पुरुष अन्य सब को जाने तो कौन उसका निषेध करता है ?

कुमारिल के आक्रमण का उत्तर जैनाचार्य अकलंक ने दिया । जैन नैयायिकों ने अपनी रचनाओं में तर्क के आधार पर सर्वज्ञता की सिद्धि तत्कालीन शैली के आधार पर की है । उस सब का विहंगावलोकन करना शक्य नहीं है ।

जैन मान्यता के अनुसार अन्तिम जैन तीर्थङ्कर भगवान् महावीर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी थे । बौद्ध त्रिपिटक साहित्य में भी उनका उल्लेख सर्वज्ञ, सर्वदर्शी के रूप में किया गया है । राहुल जी की बुद्धचर्या से यहां दो–एक उद्धरण देना अनुचित न होगा । मज्झिमनिकाय के चूल दुक्ख–क्खन्ध सुत में आया है एक बार बुद्ध राजगृह के गृध्रकूट पर्वत पर विहार करते थे । वहां बहुत से निगठं (जैन साधु) तपस्या करते थे । बुद्ध के पूछने पर उन्होंने कहा—निगठं नायपुत्त (जैन तीर्थंकर महावीर) सर्वज्ञसर्वदर्शी, आप अखिल (अपरिशेष) ज्ञान को जानते हैं—चलते, खड़े, सोते, जागते सदा निरन्तर (उनको) ज्ञानदर्शन उपस्थित रहता है ।

सदा उपस्थित रहने से आशय यह है कि वस्तु का जो परनिरपेक्ष स्वभाव होता है वह निरावृत दशा में सदा विद्यमान रहता है । जानना, देखना आत्मा का या ज्ञान दर्शनमय चैतन्य का स्वाभाविक धर्म है । उधर पदार्थों का भी ज्ञेयपन स्वाभाविक धर्म है । जो किसी के ज्ञान का विषय नहीं है वह अवस्तु है । वस्तु का ज्ञेय होना भी स्वाभाविक धर्म है । साथ ही अतीन्द्रिय पदार्थों का भी ज्ञान होना प्रायः सभी आस्तिक दर्शन मानते हैं ।

उधर जैन दर्शन अपौरुषेय आगम की सत्ता में विश्वास नहीं करता और वक्ता के

प्रामाण्य से वचनों के प्रामाण्य का सिद्धान्त सर्वसम्मत है। सच्चा वक्ता वही हो सकता है जो वीतरागी होने के साथ सर्वज्ञ सर्वद्रष्टा भी हो। क्योंकि राग–द्वेष और अज्ञानवश ही असत्य वचन बोला जाता है। इन दोषों के अभाव में असत्य बोलने का कोई कारण नहीं है। अतः जैन दर्शन ने वीतरागी, सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा आत्मा को ही सर्वज्ञ माना है। इस विषय में तार्किक पद्धति के आधार पर विप्रतिपत्तियां हैं, जिन पर भी विचार किया जाना आवश्यक है किन्तु यहां उन सब के लिये स्थान नहीं है। अतः मैं इस विषय को यहीं समाप्त करता हूँ।

आत्मा का चरम विकास पूर्ण आत्मज्ञता है और उस पूर्ण आत्मज्ञता में से ही सर्वज्ञता विकसित हुई है। इस लिये सब को जानने का प्रयत्न न करके केवल एक को ही जानने का, पूर्ण रीति से जानने का, प्रयत्न करना चाहिये। क्योंकि–'तस्मिन् विज्ञाते सति सर्वमिदं विज्ञातं भवति। तस्मिन् दृष्टे सति सर्वमिदं दृष्टं भवति।'

स्याद्वाद महाविद्यालय,
वाराणसी।

गोष्ठी

जैन दर्शन में सर्वज्ञता की संभावनाएँ*

दरबारी लाल जैन कोठिया

तज्जयति परं ज्योतिः समं समस्तैरनन्त पर्यायैः ।
दर्पणतल इव सकला प्रतिफलति पदार्थमालिका यत्र ॥

—अमृतचन्द्र, पुरुषार्थसिद्धयुपाय ।१।

पृष्ठभूमि:

भारतीय दर्शनों में चार्वाक और मीमांसक इन दो दर्शनों को छोड़कर शेष सभी (न्याय–वैशेषिक, सांख्य–योग, वेदान्त, बौद्ध और जैन) दर्शन सर्वज्ञता की सम्भावना करते तथा युक्तियों द्वारा उसकी स्थापना करते हैं। साथ ही उसके सद्भाव में आगम–प्रमाण भी प्रचुर मात्रा में उपस्थित करते हैं।

सर्वज्ञता के निषेध में चार्वाक दर्शन का दृष्टिकोण:

चार्वाक दर्शन का दृष्टिकोण है कि 'यद्दृश्यते तदस्ति, यन्न दृश्यते तन्नास्ति'–इन्द्रियों से जो दिखे वह है और जो न दिखे वह नहीं है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये चार भूत–तत्त्व ही दिखाई देते हैं। अतः वे हैं। पर उनके अतिरिक्त कोई अतीन्द्रिय पदार्थ दृष्टिगोचर नहीं होता। अतः वे नहीं हैं। सर्वज्ञता किसी भी पुरुष में इन्द्रियों द्वारा ज्ञात नहीं है और अज्ञात पदार्थ का स्वीकार उचित नहीं है। स्मरण रहे कि चार्वाक प्रत्यक्ष प्रमाण के अलावा अनुमानादि कोई प्रमाण नहीं मानते। इसलिए इस दर्शन में अतीन्द्रिय सर्वज्ञ की सम्भावना नहीं है।

मीमांसक दर्शन का मन्तव्य:

मीमांसकों का मन्तव्य है कि धर्म, अधर्म, स्वर्ग, देवता, नरक, नारकी आदि अतीन्द्रिय पदार्थ हैं तो अवश्य, पर उनका ज्ञान वेद द्वारा ही संभव है, किसी पुरुष के द्वारा नहीं[१]। पुरुष रागादि दोषों से युक्त हैं और रागादि दोष पुरुषमात्र का स्वभाव हैं तथा वे किसी भी पुरुष से सर्वथा दूर नहीं हो सकते। ऐसी हालत में रागी–द्वेषी–अज्ञानी पुरुषों के द्वारा उन धर्मादि

---

*अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के दशम वार्षिक अधिवेशन में आयोजित गोष्ठी में पठित।

१ तथा वेदेतिहासादि ज्ञानातिशयवानपि ।
न स्वर्ग-देवताऽपूर्व-प्रत्यक्ष करणे क्षमः ॥
भट्ट कुमारिल, मीमांसा श्लोक वा.।

अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान संभव नहीं है। शबर स्वामी अपने शाबर-भाष्य (१-१-५) में लिखते हैं:

'चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवंजातीयकमर्थमवगमयितुमलं, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्।'

इससे विदित है कि मीमांसक दर्शन सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान चोदना (वेद) द्वारा स्वीकार करता है, किसी इन्द्रिय के द्वारा उनका ज्ञान सम्भव नहीं मानता। शबर स्वामी के परवर्ती प्रकाण्ड विद्वान् भट्ट कुमारिल भी किसी पुरुष में सर्वज्ञता की सम्भावना का अपने मीमांसा श्लोक वार्तिक में विस्तार के साथ पुरजोर खण्डन करते हैं[२]। पर वे इतना स्वीकार करते हैं कि हम केवल धर्मज्ञ का अथवा धर्मज्ञता का निषेध करते हैं। यदि कोई पुरुष धर्मातिरिक्त अन्य सब को जानता है तो जाने, हमें कोई विरोध नहीं है:

धर्मज्ञत्व-निषेधस्तु केवलोऽत्रोपयुज्यते ।
सर्वमन्यद्विजानंस्तु पुरुषः केन वार्यते ॥
सर्वप्रमातृ-संबंधि-प्रत्यक्षादि निवारणात् ।
केवलाऽऽगम-गम्यत्वं लप्स्यते पुण्य-पापयोः[३] ॥

---

२ यज्जातीयैः प्रमाणैस्तु यज्जातीयार्थ दर्शनम् ।
दृष्टं सम्प्रतिलोकस्य तथा कालान्तरेऽप्यभूत् ॥११२-सू० २
यत्राप्यतिशयो दृष्टः स स्वार्थानतिलंघनात् ।
दूर सूक्ष्मादि दृष्टौ स्यान्न रूपे श्रोत्रवृत्तिता ॥११४
येऽपि सातिशया दृष्टाः प्रज्ञा मेधादिभिर्नराः ।
स्तोक स्तोकान्तरत्वेन नत्वतीन्द्रिय दर्शनात् ॥
प्राज्ञोऽपि हि नरः सूक्ष्मानर्थान् द्रष्टं क्षमोऽपि सन् ।
स्वजातीरनतिक्रमान्नतिशेते परान्नरान् ॥
एक शास्त्र विचारे तु दृश्यतेऽतिशयो महान् ।
न तु शास्त्रान्तर ज्ञानं तन्मात्रेणैव लभ्यते ॥
ज्ञात्वा व्याकरणं दूरं बुद्धिः शब्दापशब्दयोः ।
प्रकृष्यति न नक्षत्र-तिथि-ग्रहण निर्णये ॥
ज्योतिर्विच्च प्रकृष्टोऽपि चन्द्रार्क-ग्रहणादिषु ।
न भवत्यादिशब्दानां साधुत्व ज्ञातुमर्हति ॥
दश हस्तान्तरे व्योम्नि यो नामोत्प्लुत्य गच्छति ।
न यो जनमसौ गन्तुं शक्तोऽभ्यासशतैरपि ॥
तस्मादतिशय ज्ञानैरति दूरगतैरपि ।
किंचिदेवाधिकं ज्ञातुं शक्यते न त्वतीन्द्रियम् ॥
अनन्त कीर्ति द्वारा बृहत्सर्वज्ञ सिद्धि में उध्दृत ।

३ इन दो कारिकाओं में पहली कारिका को शान्तरक्षित ने पञ्चसंग्रह में (३१२८ का.) और दोनों को अनन्त कीर्ति ने बृहत्सर्वज्ञ सिद्धि (पृ. १३७) में उध्दृत किया है।

किसी पुरुष को धर्मज्ञ न मानने में कुमारिल का तर्क यह है कि पुरुषों का अनुभव परस्पर विरुद्ध एवं बाधित देखा जाता है[४]। अतः वे उसके द्वारा धर्माधर्म का यथार्थ साक्षात्कार नहीं कर सकते। वेद नित्य, अपौरुषेय और त्रिकालाबाधित होने से उसका ही धर्माधर्म के मामले में प्रवेश है (धर्मे चोदनैव प्रमाणम्)। ध्यान रहे कि बौद्ध दर्शन में बुद्ध के अनुभव, योगि ज्ञान को और जैन दर्शन में अर्हत् के अनुभव, केवल ज्ञान को धर्माधर्म का यथार्थ साक्षात्कारी बतालाया गया है। जान पड़ता है कि कुमारिल को इन दोनों की धर्माधर्मज्ञता का निषेध करना इष्ट है। उन्हें त्रयीवित् मन्वादि का धर्माधर्मादि विषयक उपदेश मान्य है, क्योंकि वे उसे वेद-प्रभव बतलाते हैं[५]। कुछ भी हो, वे किसी पुरुष को स्वयं धर्मज्ञ स्वीकार नहीं करते। वे मन्वादि को भी वेद द्वारा ही धर्माधर्मादि का ज्ञाता और उपदेष्टा मानते हैं।

बौद्ध दर्शन में सर्वज्ञता की संभावना:

बौद्ध दर्शन में अविद्या और तृष्णा के क्षय से प्राप्त योगी के परम प्रकर्षजन्य अनुभव पर बल दिया गया है और उसे समस्त पदार्थों का, जिनमें धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ भी सम्मिलित हैं, साक्षात्कर्ता कहा गया है। दिङ्नाग आदि बौद्ध-चिन्तकों ने सूक्ष्मादि पदार्थों के साक्षात्करण रूप अर्थ में सर्वज्ञता को निहित प्रतिपादन किया है। परन्तु बुद्ध ने स्वयं अपनी सर्वज्ञता पर बल नहीं दिया। उन्होंने कितने ही अतीन्द्रिय पदार्थों को अव्याकृत (न

---

४ सुगतो यदि सर्वज्ञः कपिलो नेति का प्रमा।
तावुभौ यदि सर्वज्ञौ मतभेदः कथं तयोः॥—अष्ट स. पृ. ३, उध्दृ.

५ उपदेशो हि बुद्धादेर्धर्माधर्मादिगोचरः।
अन्यथाच्चोपपद्येत सर्वज्ञो यदि नाभवत्॥
बुद्धादयो ह्यवेदज्ञास्तेषां वेदादसंभवः।
उपदेशः कृतोऽतस्तैर्व्यामोहादेव केवलात्॥
येऽपि मन्वादयः सिद्धाः प्राधान्येन त्रयीविदाम्।
त्रयीविदाश्रित ग्रन्थास्ते वेद प्रभवोक्तयः॥
नरः कोऽप्यस्ति सर्वज्ञः स च सर्वज्ञ इत्यपि।
साधनं यत्प्रयुज्येत प्रतिज्ञामात्रमेव तत्॥
सिसाधयिषितो योऽर्थः सोऽनया नाभिधीयते।
यस्तूच्यते न तत्सिद्धौ किंचिदस्ति प्रयोजनम्॥
यदीयागमसत्यत्व सिद्धौ सर्वज्ञतेष्यते।
न सा सर्वज्ञ सामान्य सिद्धि मात्रेण लभ्यते॥
यावब्दुद्धो न सर्वज्ञस्तावत्तद्वचनं मृषा।
यत्र क्वचन सर्वज्ञे सिद्धे तत्सत्यता कुतः॥
अन्यस्मिन्न हि सर्वज्ञे वचसोऽन्यस्य सत्यता।
समानाधिकरण्ये हि तयोरंगांगिभावता भवेत्॥

ये कारिकाएँ कुमारिल के नाम से अनन्त कीर्ति ने बृ. सि. स. में उध्दृत की हैं।

कहने योग्य) कह कर उनके विषय में मौन ही रखा[६]। पर उनका यह स्पष्ट उपदेश था कि धर्म जैसे अतीन्द्रिय पदार्थ का साक्षात्कार या अनुभव हो सकता है। उसके लिए किसी धर्म-पुस्तक की शरण में जाने की आवश्यकता नहीं है। बौद्ध तार्किक धर्मकीर्ति ने भी बुद्ध को धर्मज्ञ ही बतलाया है और सर्वज्ञता को मोक्षमार्ग में अनुपयोगी कहा है:

तस्मादनुष्ठानगतं ज्ञानमस्य विचार्यताम् ।
कीट-संख्या परिज्ञाने तस्य नः क्वोपयुज्यते ॥
हेयोपादेयतत्त्वस्य साभ्युपायस्य वेदकः ।
यः प्रमाणमसाविष्टो न तु सर्वस्य वेदकः ॥

धर्मकीर्ति, प्रमाण वा. ३१, ३२ ।

'मोक्षमार्ग में उपयोगी ज्ञान का ही विचार करना चाहिए। यदि कोई जगत् के कीड़े-मकौड़ों की सांख्या को जानता है तो उससे हमें क्या लाभ ? अतः जो हेय और उपादेय तथा उनके उपायों को जानता है वही हमारे लिए प्रमाण आप्त है, सब का जानने वाला नहीं।'

यहां उल्लेखनीय है कि कुमारिल ने जहां धर्मज्ञ का निषेध करके सर्वज्ञ के सद्भाव को इष्ट प्रकट किया है वहां धर्मकीर्ति ने ठीक उसके विपरीत धर्मज्ञ को सिद्ध कर सर्वज्ञ का निषेध मान्य किया है। शान्तरक्षित और उनके शिष्य कमलशील बुद्ध में धर्मज्ञता के साथ ही सर्वज्ञता की भी सिद्धि करते हैं[७]। पर वे भी धर्मज्ञता को मुख्य और सर्वज्ञता को प्रासङ्गिक बतलाते हैं[८]। इस तरह हम बौद्ध दर्शन में सर्वज्ञता की सिद्धि देख कर भी, वस्तुतः उसका विशेष बल हेयोपादेय तत्वज्ञता पर ही है, ऐसा निष्कर्ष निकाल सकते हैं।

न्याय-वैशेषिक दर्शन में सर्वज्ञता की सम्भावना:

न्याय-वैशेषिक ईश्वर में सर्वज्ञत्व मानने के अतिरिक्त दूसरे योगी-आत्माओं में भी उसे स्वीकार करते हैं[९]। परन्तु उनका वह सर्वज्ञत्व अपवर्ग-प्राप्ति के बाद नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह योग तथा आत्ममनः संयोग-जन्य गुण अथवा अणिमा आदि ऋद्धियों की तरह एक विभूति मात्र है। मुक्तावस्था में न आत्ममनः संयोग रहता है और न योग। अतः ज्ञानादि गुणों का उच्छेद हो जाने से वहां सर्वज्ञता भी समाप्त हो जाती है। हाँ, वे ईश्वर की सर्वज्ञता अनादि-अनन्त अवश्य मानते हैं।

---

६. देखिए, मज्झिम निकाय २-२-३ के चूलमालुंक्य सूत्र का संवाद।

७. स्वर्गापवर्गसम्प्राप्तिहेतुज्ञोऽस्तीति गम्यते ।
साक्षान्न केवलं किन्तु सर्वज्ञोऽपि प्रतीयते ॥—तत्त्व. सं. का. ३३० ।

८. 'मुख्यं हि तावत् स्वर्गमोक्षसम्प्रापक हेतुज्ञत्व साधनं भगवतोऽस्माभिः क्रियते। यत्पुनः अशेषार्थ परिज्ञातृत्व साधनमस्य तत् प्रासङ्गिकम्।'— तत्त्व. सं. पृ. ८६३ ।

९ 'अस्मद्विशिष्टानां युक्तानां योगज धर्मानुगृहीतेन मनसा स्वात्मान्तराकाशदिक्कालपरमाणुवायुमनस्सु तत्समवेत गुण कर्म सामान्यविशेष समवाये चावितथं स्वरूप दर्शनमुत्पद्यते, वियुक्तानां पुनः……… ।' —प्रशस्तपाद भाष्य, पृ० १८७ ।

सांख्य–योग दर्शन में सर्वज्ञता की संभावना:

निरीश्वरवादी सांख्य प्रकृति में और ईश्वरवादी योग ईश्वर में सर्वज्ञता स्वीकार करते हैं। सांख्यों का मन्तव्य है कि ज्ञान बुद्धितत्त्व का परिणाम है और बुद्धितत्त्व महत्तत्त्व प्रकृति का परिणाम है। अतः सर्वज्ञता प्रकृति में निहित है और वह अपवर्ग हो जाने पर समाप्त हो जाती है। योगदर्शन का दृष्टिकोण है कि पुरुषविशेय रूप ईश्वर में[१०] नित्य सर्वज्ञता है और योगियों की सर्वज्ञता, जो सर्व विषयक 'तारक' विवेकज्ञान रूप है, अपवर्ग के बाद नष्ट हो जाती है। अपवर्ग अवस्था में पुरुष चैतन्य मात्र में, जो ज्ञान से भिन्न है, अवस्थित रहता है[११]। यह भी आवश्यक नहीं कि हर योगी को वह सर्वज्ञता प्राप्त हो। तात्पर्य यह कि इनके यहां सर्वज्ञता की संभावना तो की गई है पर वह योगज विभूतिजन्य होने से अनादि–अनन्त नहीं है, केवल सादि–सान्त है।

वेदान्त दर्शन में सर्वज्ञता:

वेदान्त दर्शन में सर्वज्ञता को अन्तःकरणनिष्ठ माना गया है और उसे जीवन्मुक्त दशा तक स्वीकार किया गया है। उसके बाद वह छूट जाती है। उस समय अविद्या से मुक्त हो कर विद्या रूप शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म का रूप प्राप्त हो जाता है और सर्वज्ञता आत्मज्ञता में विलीन हो जाती है। अथवा उसका अभाव हो जाता है।

जैन दर्शन में सर्वज्ञता की संभावनाएँ:

जैन दर्शन में ज्ञान को आत्मा का स्वरूप अथवा स्वाभाविक गुण माना गया है और स्व–पर प्रकाशक बतलाया गया है[१२]। यदि आत्मा का स्वभाव ज्ञत्व (जानना) न हो तो वेद के द्वारा भी सूक्ष्मादि ज्ञेयों का ज्ञान नहीं हो सकता। भट्ट अकलङ्क ने लिखा है[१३] कि ऐसा कोई ज्ञेय नहीं, जो ज्ञस्वभाव आत्मा के द्वारा जाना न जाय। किसी विषय में अज्ञता का होना ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषों का कार्य है। जब ज्ञान के प्रतिबन्धक ज्ञानावरण तथा मोहादि दोषों का क्षय हो जाता है तो बिना रुकावट के साथ समस्त ज्ञेयों का ज्ञान हुए बिना ज्ञान नहीं रह सकता। इसको सर्वज्ञता कहा गया है। जैन मनीषियों ने प्रारम्भ से त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती समस्त पदार्थों के प्रत्यक्ष ज्ञान के अर्थ में इस सर्वज्ञता को पर्यवसित माना है। आगम–ग्रन्थों व तर्क ग्रन्थों में हमें सर्वत्र सर्वज्ञता का प्रतिपादन मिलता है। षट्खण्डागम सूत्रों में कहा गया है[१४] कि 'केवली भगवान् समस्त लोकों, समस्त जीवों और

---

१० ['क्लेशकर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः'–योगसूत्र।

११ ['तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्'—योगसूत्र १–१–३।

१२ 'उपयोगो लक्षणम्'—तत्त्वार्थ सू. २–८।

१३ 'णाणं सपरपयासयं'—कुन्दकुन्द' प्रवचन साः १–

१४ 'न खलु ज्ञस्वभावस्य कश्चिद्गोचरोऽस्ति यन्न क्रमेत, तत्स्वभावान्तर प्रतिषेधात्।'–अष्ट० श० अष्ट० सा० पृ० ४७।

अन्य समस्त पदार्थों को सर्वदा एक साथ जानते व देखते हैं[१५]। आचारांग सूत्रों में भी यही कथन किया गया है[१६]। महान् चिन्तक और लेखक कुन्दकुन्द ने भी लिखा है[१७] कि 'आवरणों के अभाव से उद्भूत केवल ज्ञान, वर्तमान, भूत, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित आदि सब तरह के ज्ञेयों को पूर्ण रूप में युगपत् जानता है। जो त्रिकाल और त्रिलोकवर्ती सम्पूर्ण पदार्थों को नहीं जानता वह अनन्त पर्यायों वाले एक द्रव्य को भी पूर्णतया नहीं जान सकता और जो अनन्त पर्याय वाले एक द्रव्य को नहीं जानता वह समस्त द्रव्यों को कैसे एक साथ जान सकता है? प्रसिद्ध विचारक भगवती आराधनाकार शिवार्य[१८] और आवश्यकनिर्युक्तिकार भद्रबाहु बड़े स्पष्ट और प्रांजल शब्दों में सर्वज्ञता का प्रबल समर्थन करते हुए कहते हैं कि 'वीतराग भगवान् तीनों कालों, अनन्त पर्यायों से सहित समस्त ज्ञेयों और समस्त लोकों को युगपत् जानते व देखते हैं।'

आगम युग के बाद जब हम तार्किक युग में आते हैं तो हम स्वामी समन्त भद्र, सिद्धसेन, अकलङ्क, हरिभद्र, पात्रस्वामी, वीरसेन, विद्यानन्द, प्रभाचन्द्र, हेमचन्द्र प्रभृति जैन तार्किकों को भी सर्वज्ञता का प्रबल समर्थन एवं उपपादन करते हुए पाते हैं। इनमें अनेक लेखकों ने तो सर्वज्ञता की स्थापना में महत्वपूर्ण स्वतंत्र ग्रन्थ ही लिखे हैं। उनमें समन्तभद्र (रवि. सं. दूसरी, तीसरी शती) की आप्तमीमांसा, जिसे 'सर्वज्ञ विशेष परीक्षा' कहा गया है,[१९] अकलंक देव की सिद्धि विनिश्चयगत 'सर्वज्ञसिद्धि', विद्यानन्द की आप्तपरीक्षा, अनन्त कीर्ति की लघु व बृहत्सर्वज्ञ सिद्धियाँ, वादीभसिंह की स्याद्वादसिद्धिगत 'सर्वज्ञ सिद्धि' आदि कितनी ही रचनाएँ उल्लेखनीय हैं। यदि कहा जाय कि सर्वज्ञता पर जैन दार्शनिकों ने सब से अधिक चिन्तन और साहित्य सृजन करके भारतीय दर्शन शास्त्र को समृद्ध बनाया है तो अत्युक्ति न

---

१५ 'सयं भयवं उप्पण्ण णाणदरिसी…सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सव्वं समं जाणदि पस्सदि विहरदि- त्ति'—षट् खं० पयदि० सू. ७८।

१६ से भगवं अरिहं जिणे केवली सव्वन्नू सव्वभावदरिसी……सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वंभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ।' आचारांग सू. २-३।

१७ जं तक्कालियमिदरं जाणदि जुगवं समंतदो सव्वं।
अत्थं विचित्त वितमं तं णाणं खाइयं भणियं॥
जो ण विजाणदि जुगवं अत्थे तेकालिगे तिहुवणत्थे।
णादुं तस्स ण सक्कं सपज्जयं दव्वमेकं वा॥
दव्वमणंतप्पज्जयमेकमणंताणि दव्व जादाणि।
ण विजाणदि जदि जुगवं कध सो दव्वाणि जाणादि॥
प्रवचन सा. १-४७, ४८, ४७।

१८ पस्सदि जाणदि ण तहा तिण्णि वि काले सपज्जए सव्वे, तह वा लोगमसेसं भयवं विगय मोहो।
भ. आ. गा. २१४१।

१९ संभिण्णं पासंतो लोगमलोगं च सव्वओ सव्वं।
तं णत्थि जं न पासइ भूयं भव्वं भविस्सं च॥
आवश्यक नि० गा. १२७।

होगी।

सर्वज्ञता की स्थापना में समन्तभद्र ने जो युक्ति दी है वह बड़े महत्व की है। वे कहते हैं कि सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ भी किसी पुरुष विशेष के प्रत्यक्ष हैं, क्योंकि वे अनुमेय हैं, जैसे अग्नि। उनकी वह युक्ति यह है:

सूक्ष्मान्तरितदूरार्थाः प्रत्यक्षाः कस्यचिद्यथा ।
अनुमेयत्वतोऽग्न्यादिरिति सर्वज्ञ–संस्थितिः ॥

समन्तभद्र एक दूसरी युक्ति के द्वारा सर्वज्ञता के रोकने वाले अज्ञानादि दोषों और ज्ञाना–वरणादि आवरणों का किसी आत्म विशेष में अभाव सिद्ध करते हुए कहते हैं कि 'किसी पुरुष विशेष में ज्ञान के प्रतिबन्धकों का पूर्णतया क्षय हो जाता है, क्योंकि उनकी अन्यत्र न्यूनाधिकता देखी जाती है। जैसे स्वर्ण में बाह्य और अन्तरंग दोनों प्रकार के मेलों का अभाव दृष्टिगोचार होता है[२०]। प्रतिबन्धकों के हट जाने पर ज्ञस्वभाव आत्मा के लिये कोई ज्ञेय अज्ञेय नहीं रहता। ज्ञेयों का अज्ञान या तो आत्मा में उन सब ज्ञेयों को जानने की सामर्थ्य न होने से होता है या ज्ञान के प्रतिबन्धकों के रहने से होता है। चूँकि आत्मा ज्ञ है और तप, संयमादि की आराधना द्वारा प्रतिबन्धकों का अभाव पूर्णतया संभव है, ऐसी स्थिति में उस वीतराग महायोगी को कोई कारण नहीं कि अशेष ज्ञेयों का ज्ञान न हो। अन्त में इस सर्वज्ञता को अर्हत् में सम्भाव्य बतलाया गया है। उनका वह प्रतिपादन इस प्रकार है:–

दोषावरणयोर्हानिर्निश्शेषाऽस्यतिशायनात् ।
क्वचिद्यथा स्वहेतुभ्यो बहिरन्तर्मलक्षयः ॥
स त्वमेवासि निर्दोषो युक्तिशास्त्राविरोधिवाक् ।
अविरोधो यदिष्टं ते प्रसिद्धेन न बाध्यते ॥

आप्तमी० का० ५, ६।

समन्तभद्र के उत्तरवर्ती सूक्ष्म चिन्तक अकलङ्कदेव ने सर्वज्ञता की संभावना में जो महत्व-पूर्ण युक्तियाँ दी हैं उनका भी यहां उल्लेख कर देना आवश्यक है। अकलंक की पहली युक्ति यह है कि आत्मा में समस्त पदार्थों को जानने की सामर्थ्य है। इस सामर्थ्य के होने से ही कोई पुरुष विशेष वेद के द्वारा भी सूक्ष्मादि ज्ञेयों को जानने में समर्थ हो सकता है, अन्यथा नहीं। हां, यह अवश्य है कि संसारी–अवस्था में ज्ञानावरण से आवृत होने के कारण ज्ञान सब ज्ञेयों को नहीं जान पाता। जिस तरह हम लोगों का ज्ञान सब ज्ञेयों को नहीं जानता, कुछ सीमितों को ही जान पाता है, पर जब ज्ञान के प्रतिबन्धक कर्मों (आवरणों) का पूर्ण क्षय

---

२० यहां ध्यान देने योग्य है कि समन्तभद्र ने आप्त के आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य तीन गुणों एवं विशेषताओं में सर्वज्ञता को आप्त की अनिवार्य विशेषता बतलाया है—उसके बिना वे उसमें आप्तता असंभव बतलाते हैं:

आप्तेनोच्छिन्न दोषेण सर्वज्ञेनागमेशिना ।
भवितव्यं नियोगेन नान्यथा ह्याप्तता भवेत् ॥

—रत्न क० श्लोक ५।

हो जाता है तो उस विशिष्ट इन्द्रियानपेक्ष और आत्म मात्र सापेक्ष ज्ञान को, जो स्वयं अप्राप्य-कारी भी है, समस्त ज्ञेयों को जानने में क्या बाधा है[२१] ?

उनकी दूसरी युक्ति यह है कि यदि पुरुषों को धर्माधर्मादि अतीन्द्रिय ज्ञेयों का ज्ञान न हो तो सूर्य, चन्द्र आदि ज्योतिग्रहों की ग्रहण आदि भविष्यत् दशाओं और उनसे होने वाला शुभाशुभ का अविसंवादी उपदेश कैसे हो सकेगा ? इन्द्रियों की अपेक्षा किये बिना ही उनका अतीन्द्रियार्थ विषयक उपदेश सत्य और यथार्थ स्पष्ट देखा जाता है। अथवा जिस तरह सत्य स्वप्नदर्शन इन्द्रियादि की सहायता के बिना ही भावी राज्यादि लाभ का यथार्थ बोध कराता है उसी तरह सर्वज्ञ का ज्ञान भी अतीन्द्रिय पदार्थों में संवादी और स्पष्ट होता है और उसमें इन्द्रियों की आंशिक भी सहायता नहीं होती। इन्द्रियां तो वास्तव में कम ज्ञान को ही कराती हैं। वे अधिक और सर्व विषयक ज्ञान में उसी तरह बाधक हैं जिस तरह सुन्दर प्रासाद में बनी हुई खिड़कियां अधिक प्रकाश को रोकती हैं।

अकलंक की तीसरी युक्ति यह है कि जिस प्रकार परिमाण, अणु परिमाण से बढ़ता-बढ़ता आकाश में महा परिमाण या विभुत्व का रूप ले लेता है, क्योंकि उसकी तरतमता देखी जाती है, उसी तरह ज्ञान के प्रकर्ष में भी तारतम्य देखा जाता है। अतः जहाँ वह ज्ञान सम्पूर्ण अवस्था (निरतिशयपने) को प्राप्त हो जाय वहीं सर्वज्ञता आ जाती है। इस सर्वज्ञता का किसी व्यक्ति या समाज ने ठेका नहीं लिया। वह प्रत्येक योग्य साधक को प्राप्त हो सकती है।

उनकी चौथी युक्ति यह है कि सर्वज्ञता का कोई बाधक नहीं है। प्रत्यक्ष आदि पांच प्रमाण तो इसलिए बाधक नहीं हो सकते क्योंकि वे विधि (अस्तित्व) को विषय बनाते हैं। यदि वे सर्वज्ञता के विषय में दखल दें तो उनसे उसका सद्भाव ही सिद्ध होगा। मीमांसकों का अभाव-प्रमाण भी उसका निषेध नहीं कर सकता। क्योंकि अभाव-प्रमाण के लिये यह आवश्यक है[२२] कि जिसका अभाव करना है उसका स्मरण और जहाँ उसका अभाव करना है वहां

---

२१ कथञ्चित् स्वप्रदेशेषु स्यात्कर्म-पटलाच्छता।
संसारिणां तु जीवानां यत्र ते चक्षुरादयः॥
साक्षात्कर्तुं विरोधः, कः सर्वथा वरणात्यये।
सत्यमर्थं तथा सर्वं यथाऽभूद्वा भविष्यति॥
सर्वार्थ ग्रहण सामर्थ्याच्चैतन्य प्रति बन्धिनाम्।
कर्मणां विगमे कस्मात् सर्वान्नर्थान् न पश्यति॥
ग्रहादि गतयः सर्वाः सुख-दुःखादि हेतवः।
येन साक्षात्कृतास्तेन किन्न साक्षात्कृतं जगत्॥
ज्ञस्यावरण विच्छेदे ज्ञेयं किमवशिष्यते।
अप्राप्यकारिणस्तस्मात्सर्वार्थावलोकनम्॥

न्यायविनिश्चय का. ३६१, ६२, ४१०, ४१४, ४६५।

२२ गृहीत्वा वस्तु सद्भावं स्मृत्वा च प्रतियोगिनम्।
मानसं नास्तिता ज्ञानं जायतेऽक्षानपेक्षया॥

उसका प्रत्यक्ष दर्शन आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। जब हम भूतल में घड़े का अभाव करते हैं तो वहां पहले देखे गये घड़े का स्मरण और भूतल का दर्शन होता है, तभी हम यह कहते हैं कि यहां घड़ा नहीं है। किन्तु तीनों (भूत, भविष्यत् और वर्तमान) कालों तथा तीनों (उर्ध्व, मध्य, और अधो) लोकों के अतीत, अनागत और वर्तमानकालीन अनन्त पुरुष में सर्वज्ञता नहीं थी, नहीं है और न होगी, इस प्रकार का ज्ञान उसी को हो सकता है जिसने उन तमाम पुरुषों का साक्षात्कार किया है। यदि किसी ने किया है तो वही सर्वज्ञ हो जायगा। साथ ही सर्वज्ञता का स्मरण सर्वज्ञता के प्रत्यक्ष अनुभव के बिना संभव नहीं और जिन त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती अनन्त पुरुषों (आधार) में सर्वज्ञता का अभाव करना है उनका प्रत्यक्ष दर्शन भी संभव नहीं। ऐसी स्थिति में सर्वज्ञता का अभाव प्रमाण भी बाधक नहीं है। इस तरह जब कोई बाधक नहीं है तो कोई कारण नहीं कि सर्वज्ञता का सद्भाव सिद्ध न हो[२३]।

निष्कर्ष यह है कि आत्मा 'ज्ञ'–ज्ञाता है और उसके ज्ञान स्वभाव को ढँकने वाले आवरण दूर होते हैं। अतः आवरणों के विछन्न हो जाने पर ज्ञस्वभाव आत्मा के लिए फिर शेष जानने योग्य क्या रह जाता है? अर्थात् कुछ भी नहीं। अप्राप्यकारी ज्ञान से सकलार्थ विषयक ज्ञान होना अवश्यम्भावी है। इन्द्रियां और मन सकलार्थ परिज्ञान में साधक न होकर बाधक हैं। वे जहां नहीं हैं और आवरणों का पूर्णतः अभाव है वहां त्रैकालिक और त्रिलोकवर्ती यावज्ज्ञेयों का साक्षात् ज्ञान होने में कोई बाधा नहीं है।

आ. वीरसेन[२४] और आ. विद्यानन्द[२५] ने भी इसी आशय का एक महत्वपूर्ण श्लोक प्रस्तुत करके उसके द्वारा ज्ञ स्वभाव आत्मा में सर्वज्ञता की सम्भावना की है। वह श्लोक यह है:

ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
दाह्येऽग्निर्दाहको न स्यादसति प्रतिबन्धने॥

जयधवला पृ. ६६, अष्ट स. पृ. ५०।

अग्नि में दाहकता हो और दाह्य–ईंधन सामने हो तथा बीच में रुकावट न हो तो अग्नि अपने दाह्य को क्यों नहीं जलावेगी? ठीक उसी तरह आत्मा ज्ञ (ज्ञाता) हो, और ज्ञेय सामने हों तथा उनके बीच में कोई रुकावट न रहे तो ज्ञाता उन ज्ञेयों को क्यों नहीं जानेगा? आवरणों के अभाव में ज्ञस्वभाव आत्मा के लिए आसन्नता और दूरता ये दोनों भी निरर्थक हो जाती हैं।

उपसंहार:

अन्त में यह कहते हुए अपना निबन्ध समाप्त करते हैं कि जैन दर्शन में प्रत्येक आत्मा में आवरणों और दोषों के अभाव में सर्वज्ञता का होना अनिवार्य माना गया है। वेदान्त

---

२३ 'अस्ति सर्वज्ञः सुनिश्चितासंभवद्बाधक प्रमाणत्वात्, सुखादिवत्।' सिद्धि वि० वृ. ८–६ तथा अष्ट. श. का, ५।

२४ विशेष के लिए वीरसेन की जयधवला (पृ. ६४ से ६६)।

२५ विद्यानन्द के आप्तपरीक्षा अष्टसहस्री आदि ग्रन्थ देखें।

दर्शन में मान्य आत्मा की सर्वज्ञता से जैन दर्शन की सर्वज्ञता में यह अन्तर है कि जैन दर्शन में सर्वज्ञता को आवृत करने वाले आवरण और दोष मिथ्या नहीं हैं, जबकि वेदान्त दर्शन में अविद्या को मिथ्या कहा गया है। इसके अलावा जैन दर्शन की सर्वज्ञता जहां सादि-अनन्त है और प्रत्येक मुक्त आत्मा में वह पृथक् पृथक् विद्यमान रहती है अतएव अनन्त सर्वज्ञ हैं, वहां वेदान्त में मुक्त-आत्माएँ अपने पृथक् अस्तित्व को न रख कर एक अद्वितीय सनातन ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं और उनकी सर्वज्ञता अन्तःकरण सम्बन्ध तक रहती है, बाद को वह नष्ट हो जाती है या ब्रह्म में ही उसका समावेश हो जाता है।

श्री सम्पूर्णानन्द जी ने अपने उद्घाटन भाषण में जैनों की सर्वज्ञता का उल्लेख करते हुए उसे आत्मा का स्वभाव न होने की बात कही है। उसके सम्बन्ध में इतना ही निवेदन कर देना पर्याप्त होगा कि जैन मान्यतानुसार सर्वज्ञता आत्मा का स्वभाव है और वह अर्हत् (जीवन्मुक्त) अवस्था में पूर्णतया प्रकट हो जाती है तथा वह विदेह मुक्तावस्था में भी अनन्त काल तक विद्यमान रहती है। 'सत् का विनाश नहीं और असत् का उत्पादन नहीं' इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा का कभी भी नाश न होने के कारण उसकी स्वभावभूत सर्वज्ञता का भी विनाश नहीं होता। अतएव अर्हत् अवस्था में प्राप्त अनन्त चतुष्टय (अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य) के अन्तर्गत अनन्त ज्ञान द्वारा इस सर्वज्ञता को जैन दर्शन में शाश्वत शक्ति की अपेक्षा अनादि-अनन्त और व्यक्ति की अपेक्षा सादि-अनन्त स्वीकार किया गया है।

अन्त में दर्शन परिषद् में सम्मिलित हुए सभी सदस्यों का, विशेष कर उसके आयोजकों का, मैं हृदय से आभारी हूँ कि उन्होंने मुझे 'जैनों के अनुसार सर्वज्ञता की संभावनाएँ' विषय पर जैन दृष्टि से विचार प्रस्तुत करने का अवसर तथा समय दिया। एक बार मैं पुनः सब का धन्यवाद करता हूँ।

हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी।

गोष्ठी

ज्ञान की सीमायें और सर्वज्ञता की संभावनायें

रामजी सिंह

१. ज्ञान विस्तार: एक मानवीय आकांक्षा:–

यह ठीक है कि आधुनिक विचारक सर्वज्ञता की मान्यता या संभावनाओं पर विचार करना तो दूर रहा इसे अंधविश्वास पर आधारित अत्यन्त अप्रौढ़ चिंतन से उद्भूत उपहास एवं परिहास का विषय मानते हैं, दूसरी ओर इसके समर्थक उन्हीं निर्जीव युक्तियों का निःसार पुनरावर्तन कर रहे हैं जिनका परम्परागत बुद्धिवाद के इतिहास में चाहे जो भी मूल्य रहा हो आज के वैज्ञानिक जगत् में कोई विशेष महत्त्व नहीं रहा है, फिर भी यदि सर्वज्ञता का विचार मानवीय आकांक्षाओं पर आधारित है तो यह एक समस्या के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत है ही।

संभवतः मानवीय ज्ञान का विकास मानवीय सभ्यता के विकास का भी मापदंड रहा है क्योंकि "हमारे ज्ञानान्तर्गत सत्य का मूल्य न केवल सत्य के हमारे सैद्धान्ति परिज्ञान के लिये महत्वपूर्ण है बल्कि इसका सम्बन्ध विभिन्न क्षेत्रों में हमारे व्यक्तिगत जीवन एवं आचारण से भी रहा है।"१ इसीलिये मानव सृष्टि के आरम्भ से ही अपने ज्ञान की सीमा के विस्तार के लिये प्रयत्नशील रहा है। इसीलिये तो ज्ञान केवल ज्ञान के लिये ही नहीं बल्कि जीवन और जीवन-संघर्ष के आवश्यक उपकरण के रूप में भी रहा है। भारतीय प्रमाण–शास्त्र के इतिहास में प्रमाण–संख्या की क्रमिक अभिवृद्धि भी ज्ञान विस्तार की इसी मानवीय चेष्टा की ओर एक गर्भित संकेत है। इसी प्रकार ज्ञान और विज्ञान के क्षेत्र में उत्तरोत्तर विस्तृत अभिक्रम मानवीय अन्तराल की ज्ञान विस्तार की असीम बुभूक्षा एवं पिपासा प्रमाणित करता है। संक्षेप में, हम यह निवेदन कर सकते हैं कि ज्ञान के विस्तार का यह निरन्तर प्रयास एक शाश्वत मानवीय आकांक्षा या एक आधारभूत प्रवृत्ति के रूप में रहा है।

२. व्यवधान और विकार:–

जहाँ एक ओर मानव अपने ज्ञान विकास के लिये२ इस प्रकार अबाध गति से अपना

---

१. Gustava Weigel and Arthur G. Madden: "Knowledge: Its Values and Limits." Englewood Cliffs., 1991, Preface.

२. चार्वाक–प्रत्यक्ष; वैशेषिक–प्रत्यक्ष तथा अनुमान; सांख्य–बौद्ध–प्रत्यक्ष, अनुमान शब्द; न्याय–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान शब्द; मीमांसा–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति; वेदान्त–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द, अर्थापत्ति, एवं अनुपलब्धि: आदि पुराणों में प्रमाण माने गये हैं।

उपक्रम कर रहा है, दूसरी ओर अज्ञान और संशय के रूप में कुछ प्रतिगामी वृत्तियां भी दृष्टिगोचर हो रही हैं। अनुभववाद जहां इन्द्रिय की सीमा का उल्लंघन नितान्त निषिद्ध मानता है वहां बुद्धिवाद मानवीय मस्तिष्क की लक्ष्मण रेखा में ही आबद्ध है–जो नितान्त अविहित तो है ही, साथ–साथ इसमें उच्चतर ज्ञान के गवाक्षों की भी उपेक्षा है। इसीलिये यदि एक संशयवाद और अज्ञेयवाद को जन्म देता है तो दूसरे से ज्ञान में जड़ता एवं अप्रगतिशीलता का दोष उत्पन्न होता है। भारतीय संशयवादी संजय को इसलिये "कायर बुद्धि–वादी" की हीन संज्ञा से विभूषित किया गया है क्योंकि मानवीय चित्त की निर्णय भूमि पर सार्वत्रिक अनिश्चयता के कारण बौद्धिक जड़ता एवं निर्णय–हीनता को प्रश्रय मिलता है[३]। अज्ञानवाद हमारे ज्ञान के लिये पूर्वनिश्चित सीमाओं का निर्धारण ही नहीं करता बल्कि ज्ञान के विषय में मनोविज्ञान की भ्रान्त धारणा के कारण ज्ञान की समस्त संभावनाओं को ही तिलांजलि दे देता है[४]।

३. ज्ञान की सीमायें: समस्यायें और समाधान:–

ज्ञान की सीमा की समस्या भयानक रूप से विवादास्पद है। विज्ञान के चमत्कार से प्रभावित व्यक्तियों की सीमाओं के निर्धारण की चेष्टा ही एक परम्परागत भ्रामक धर्मसापेक्षी दार्शनिक विचारधारा का परिणाम दीखता है, और आज के वैज्ञानिक युग में जबकि किसी भी तत्व को न स्थिर ही माना जा सकता है न तत्वज्ञान को पूर्णतया निश्चित एवं सत्य, तत्व ज्ञान की सीमाओं का निश्चित निर्धारण ही असंभव लगता है।"[५] 'सर्वज्ञ' शब्द का प्रयोग मात्र परम्परागत एवं अंध विश्वास–पूर्ण कहा जाता है। मार्क्सवादी द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद से प्रभावित विचारक एक ओर यदि 'असीम' या 'अंतिम–ज्ञान' की कल्पना का मिथ्यात्व बताता है तो दूसरी ओर अज्ञान के अंधकार को नष्ट करने के लिये सतत यत्नशील रहने की आशा–वादी प्रेरणा प्रदान करता है। ज्ञान मानव की प्रवृत्ति एवं समाज के सम्बन्धों के ऐतिहासिक विकास का सतत उन्मुख सिद्धान्त है। प्रकृति का कोई रहस्य ऐसा नहीं जिसकी व्याख्या नहीं हो सकती[६]। श्रुतिपरक प्रमाणवादी विचारक मात्रात्मक या प्रकारामक दृष्टियां से तो ज्ञान की सीमा स्वीकार करते हैं किन्तु मूल्यात्मक दृष्टि से सर्वज्ञता की संभावना पर जोर देते हैं।[७]

---

३. Barua, B. M. A History of Pre-Buddhistic Indian Philosophy, Cal, Univ. 1921, pp. 330 1.

४. Ladd, L. T. : Knowledge, Life and Reality, Yale Uni , 1918, pp. 100-1.

५. डा: अजित कुमार सिन्हा कृत निबन्ध "ज्ञान की सीमायें"–दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर, १९६३, पृ. २३४।

६. डा: धीरेन्द्र कृत निबन्ध "ज्ञान की मीमांसा की नई व्याख्या"–दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर, १९६३, पृ २२६।

७. डा: रमाकांत त्रिपाठी कृत निबन्ध "ज्ञान की सीमायें" दार्शनिक त्रैमासिक, अक्तूबर, १९६३–६४, पृ. २२२।

उदाहरण स्वरूप, उपनिषदों में "जहां सर्वज्ञान की बात कही गयी है वहां मात्रा की दृष्टि से नहीं मूल्य की दृष्टि से कही गयी है। सर्वज्ञान का अर्थ है तत्त्वज्ञान।"[८] अवधारणात्मक विश्लेषणवादी दृष्टिकोण से ज्ञान की सीमा के प्रश्न का अर्थ है कुछ परिभाषया अज्ञेय क्षेत्र को स्वीकार करना। अज्ञेय चिन्त्य एवं अचिन्त्य दोनों हो सकता है। अतः "ज्ञान की सीमा का प्रश्न व्यक्ति या समाज की, अथवा वास्तविक या संभाव्य सीमा का प्रश्न नहीं है, और न ऐतिहासिक विकास क्रम का है, यह अज्ञेयता का प्रश्न है।"[९] जैन दार्शनिक जिस समय आत्मा के अन्तर्गत अनन्त चतुष्टय को स्वीकार कर "अनन्त ज्ञान" को स्वीकार कर लेता है, उसी समय ज्ञान की सीमाओं का निराकरण हो जाता है। ऐन्द्रियिक ज्ञान की सीमा अवश्य मानी गयी है किन्तु वह तो परोक्ष ज्ञान माना गया है, प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञान की कोई भी सीमा नहीं है। अतः जैन दर्शन ऐन्द्रियिक स्तर पर ज्ञान की सीमा को स्वीकार करता हुआ भी अनुभव से उत्पन्न अवश्यम्भावी संशयवाद एवं अज्ञेयवाद से बचता है। अतः यहां वास्तववाद एवं आदर्शवाद दोनों का समन्वय है। ज्ञान का स्तरभेद केवल भारतीय प्रमाणशास्त्र को ही स्वीकार्य नहीं बल्कि अन्य विचारकों को भी है[१०]। ज्ञानात्मक दृष्टिकोण सर्वव्यापक है, इसीलिये हमारे ज्ञान की सीमा वस्तुतः हमारे द्वारा ही निर्धारित होती है[११]। ज्ञानात्मक चेतना तो सीमित है ही क्योंकि हम अपने सामने असंख्य दृश्यमान तत्त्वों में से किसी एक पर ही सोचते हैं[१२]। जो भी हो, ज्ञान तो सापेक्ष एवं सीमित है ही। लेकिन ज्ञान की यह सीमा इसके प्रामाण्य एवं प्रकृष्टता, परिधि-चैतन्य एवं इसके अनुमान की सत्यता की अपेक्षा से है। ये सीमायें विगत तीन दशक पूर्व आज की अपेक्षा अत्यन्त संकुचित थीं। संक्षेप में, मानवीय ज्ञान का सत्य के साथ धीरे-धीरे अधिक निकट सम्बन्ध हो रहा है[१३]। इसीलिये सिद्धान्त रूप से यह स्वीकार किया जा सकता है कि सभी संभाव्य ज्ञान मानवीय सीमा एवं शक्ति के अन्तर्गत है।[१४]

४. सर्वज्ञत्व का अर्थः- (क) व्युत्पत्तिः-

पाणिनि 'सर्वज्ञ' शब्द की व्युत्पत्ति "इगुपध-ज्ञा-प्री-किरः कः"[१५] सूत्र से है। "वाच-

---

८. उपर्युक्त—पृ. २१२।

९. यशदेव शल्य कृत आलोचना "ज्ञान की सीमायें", दार्शनिक त्रैमासिक, अप्रैल १९६४, पृ. १०-२।

१०. Gustava Weigel and Arthur Madden: Knowledge : Its Value and Limits, Cliff, 1961 P. 29. Five levels of knowledge.

११ A. Sinclair : The conditions of knowing, Routledge and Kegan Paul, Lond. 1951, p. 13.

१२. Saswitha, "Principles of Thinking" in Proceedings of International Philosophical Congress, Brussels Vol. II, 1953 p 59.

१३. Ladd, G. T. knowledge, Life & Reality, Yale Univ., 1918, p.p. 100.

१४. Searles, H. L. "The Revolt Against Epistemology", in Proceedings of International Philosophical Congress, Brussels, 1953, Vol. II. p. 73. (श्री अरविन्द के लाइफ डिवाइन से उद्धृत)

१५. अष्टाध्यायी, ३-१-१३५।

स्पत्यम्''[१६] ने सर्वज्ञता का अर्थ ''सर्वं जानाति'' से जोड़ते हुए इसमे सूचित होने वाले पांच अर्थों का संकेत किया है। मोनाइर एन्ड मोनाइर विलियम्स[१७] ने भी प्राचीन साहित्य में सर्वज्ञता सम्बन्धी लगभग तीस अवतरणों को उद्धृत किया है।'' शब्द कल्पद्रुम''[१८] में सर्वज्ञता के तीन और अर्थ दिये गये हैं यथा शिवि, बुद्ध और विष्णु। प्रिंसिपल आमे कृत ''संस्कृत कोष''[१९] का विचार ''वाचस्पत्यम्'' से ही मिलता है। संस्कृत ''सर्वज्ञता'' का पाली पर्याय ''सव्वराणुता'' या ''सव्वराणु'' है क्योंकि पालि व्याकरण[२०] के अनुसार यदि कर्म से परे ''आ'' धातु आवे तो ''कु'' प्रत्यय होता है, जैसे ''जानाति इति सव्वराणु[२१]।'' अर्द्ध मागधी कोष[२२] में भी सर्वज्ञता का 'अर्द्धमागधी पर्याय पाली से मिलता जुलता है। प्राकृत–महाकोष ''अभिधान राजेन्द्रः'' में सर्वज्ञता का प्राकृत पर्याय ''सब्बञ्ञ'' या ''सव्वराणु'' केवल ज्ञान के अर्थ में प्रयुक्त है। वहां इसके दो अर्थ बताये गये हैं–सामान्य (सर्वज्ञ) और विशेष (सभी द्रव्यों का पर्यायों सहित जानना)।

अर्थ विश्लेषण:–

''सर्वज्ञता'' शब्द का यदि वस्तु वाचकता के अर्थ में व्यवहार हो तो इसका अर्थ है ''संख्यात्मक, परिमाणात्मक दृष्टि से सभी वस्तुओं का ज्ञान।'' गुणवाचकता के अर्थ में 'सर्वज्ञता' का अर्थ सार तत्त्वों का परिज्ञान होगा। किन्तु ''सार तत्त्वों का परिज्ञान'' भी दो अर्थों में प्रयुक्त हो सकता है— तत्त्वज्ञता और मार्गज्ञता या धर्मज्ञता। मीमांसक 'सर्वज्ञता' शब्द के पांच अर्थों को बतलाते हुए इनमें से किसी के साथ भी अपना विरोध नहीं बताते, यथा (क) सर्वज्ञ शब्द का ज्ञान, (ख) इस नश्वर जगत् के समस्त पदार्थों का ज्ञान, (ग) सार तत्त्वों का ज्ञान, (घ) अपने दृष्टिकोण एवं अपनी परम्परा के अनुसार चरम तत्त्वों का परिज्ञान (ङ) सभी ज्ञेय एवं प्रमेयों का ज्ञान। मीमांसक तो केवल धर्मज्ञता के अर्थ में प्रयुक्त दैवी या मानुषी सर्वज्ञता का विरोध नहीं करते हैं क्योंकि धर्म के विषय में वेद का ही एकमात्र अधिकार स्वीकार किया गया है।[२४] सर्वज्ञता शब्द का अर्थ तबतक पूर्णरूप से स्पष्ट नहीं होगा जबतक हम यह भी विचार नहीं कर लें कि सर्वज्ञ है कौन? सर्वज्ञ या तो कोई अलौकिक व्यक्ति या देवता

---

१६. तर्क वाचस्पति तारानाथ भट्टाचार्य कृत, चौखम्बा, वाराणसी, १९६२, भाग-६, पृ. ५२५८।
१७. Sanskrita-English Dictionary, Oxford, 1956 P. 1185.
१८. राजा सर राधाकान्त देव सम्पादित, मोतीलाल बनारसी दास, दिल्ली, १९६१, भाग ५, पृ० ३०३।
१९. P. K. Gode & G.C. Karve (Edited), Prasad Prakashana, Poona, 1959 P-1656.
२०. (Ed.) Rhys Davids T. W. & Stede William, Pali Text Society, 1921, PP. 139-40.
२१. जगदीश काश्यप कृत पालि महा व्याकरण, सारनाथ, १९४०, पृ० ६२।
२२. मुनि रतनलाल (स.) लिंबिड़ी-१९३२, भाग ४, पृ० ६९२।
२३. विजय राजेन्द्रसूरि (सं.)-भाग-६. पृ० ५८५।
२४. शांतिरक्षित कृत तत्त्वसंग्रह-कारिका-३१२८-३१३३ (कुमारिल के वचन)।

होगा या कोई लौकिक। अलौकिक पुरुष या देवता में भी एक ओर तो परम पुरुष भगवान् की सर्वज्ञता का वर्णन मिलता है दूसरी ओर किसी देव विशेष या पैगम्बर विशेष की चर्चा रहती है। फिर लौकिक सर्वज्ञता की भी मुख्यतया तीन श्रेणियां हो सकती हैं—मानवीय, योगी और मानवेतर।

५. भारतीय दर्शन में सर्वज्ञ–विचार की भूमिकायें:–

भारतीय दर्शन के इतिहास में सर्वज्ञ–विचार के मुख्यतः तीन विरोधी रहे हैं—वैदिक मीमांसक (जो अन्य सभी अर्थों में सर्वज्ञता को भले ही स्वीकार करें किन्तु धर्मज्ञता के अर्थ में स्वीकार नहीं करते, भौतिकवादी, चार्वाक एव संशय एवं अज्ञानवादी। बाकी सब ने सर्वज्ञता के विचार को स्वीकार किया है जिसकी प्रायः छः भूमिकायें हो सकती हैं:–

(क) वेदों की प्रार्थनात्मक भूमिका–

यहां देव–सर्वज्ञत्व का सिद्धान्त स्वीकार कर देवताओं की प्रशंसात्मक प्रार्थनायें प्रस्तुत की गयी हैं। सम्पूर्ण वेदों में 'सर्वज्ञ' या'सर्वज्ञत्व' शब्द एक बार भी प्रयुक्त नहीं हुए हैं किन्तु इनके अनेक पर्याय, जैसेः विश्ववेदस्[२५], विश्ववित्[२६], विश्वानिविद्वान्[२७], सर्ववित् आदि[२८] आये हैं।

(ख) उपनिषदों की आत्मज्ञता की भूमिका–

उपनिषद्–दर्शन का मूल तत्व आत्मा है अतः सर्वज्ञ का अर्थ आत्मज्ञ माना गया है[३०] "आत्मानं विद्धि"[३१] ही इसका मूलमंत्र है। १२० उपनिषदों में ३१ बार सर्वज्ञता शब्द प्रयुक्त हुआ है।

(ग) धर्म शास्त्रान्तर्गत धर्मज्ञता की भूमिका–

स्मृतियों एवं पुराणों में ही नहीं महाभारत एवं रामायण में भी धर्मज्ञता का महत्व बताया गया है।[३२] इन शास्त्रों में सर्वज्ञता का अर्थ प्रायः धर्म के सभी सूक्ष्म तत्वों का ज्ञान है। साथ-साथ यह देव–सर्वज्ञता का भी वर्णन है। जैनागमों[३३] में भी कहीं–कहीं 'सर्वज्ञता'

---

25. ऋग्वदे १/२१/१; सामवदे–१/१/३।
26. अथर्ववदे 1/13/4, ऋग्वदे 10/91/3.
27. ऋग्वदे-9/4/85, 10/112/2.
28. अथर्ववदे-7,1 11.
29. जातवदेस्–अथर्व–1/7/2; 1/7/5; 1/8/2; 2/128; 2/292 आदि, सहस्राक्ष–अथर्व, 2/28/3;
    सामवदे 3/1/1, यजुर्वेद–39/9
    विश्वचक्षु–ऋग्वदे–10/81/3.
    विश्वद्रष्टाः– अथर्व 9/107/4.
30. बृहदारण्यक– 4/5/6.
31. छान्दोग्य– 7/1/1; 6/1/1-3; बृहद–3-7-1; मुंडक–1/1/39.
32. महाभारत– शांतिपर्व 55/11 से आगे।
33. षट्खंडागम् सूत्र–78. (अमरावती प्रकाशन)

एवं 'धर्मज्ञता' एक ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। प्रज्ञाकर गुप्त३४ ने भी सुगत को सर्वज्ञ एवं धर्मज्ञ दोनों माना है जिसका शांतरक्षित३५ ने भी समर्थन किया है।

(घ) बुद्धिवादी भूमिका—

बौद्धों में शांतरक्षित एवं प्रज्ञाकर गुप्त तथा जैनों में उमा स्वामी, सिद्धसेन दिवाकर, समन्तभद्र, पूज्यपाद, अकलंक देव, अभयदेव सूरि, हरीभद्र, विद्यानन्द, माणिक्यनन्द, अनन्तवीर्य प्रभाचंद्र, हेमचंद्र, वादिदेवसिंह सूरि, मल्लिसेन, धर्मभूषण, यशोविजय आदि अनेक विद्वानों ने सर्वज्ञता की सिद्धि के लिये प्रमाण दिये हैं। मीमांसकों के द्वारा खंडन एवं जैन-बौद्ध दार्शनिकों के द्वारा प्रत्युत्तर भारतीय बुद्धिवाद का एक उज्ज्वल अध्याय है। हां, इसमें साम्प्रदायिक प्रतियोगिता का भाव भी कम नहीं है।

(च) श्रद्धा एवं बुद्धि की समन्वयवादी भूमिका—

जैनों ने आगम एवं तर्क, हृदय एवं मस्तिष्क दोनों का समन्वय करते हुए सर्वज्ञता की मान्यता का एक धार्मिक एवं तार्किक आवश्यकता के रूप में महसूस किया है। भगवान् महावीर की सर्वज्ञता जैन धर्म के लिये श्रद्धा स्वरूप स्वीकार्य है लेकिन मानवीय सर्वज्ञता की संभावना के लिये विशुद्ध बुद्धिवादी तर्क प्रस्तुत किये गये हैं।

(छ) योग शास्त्र की भूमिका—

न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, तंत्र-साहित्य आदि में हम योग-शास्त्र की चर्चा पाते हैं जिसमें यौगिक नियमों से सिद्धियों की प्राप्ति बतायी गयी है। न्याय-वैशेषिक ने तो अलौकिक प्रत्यक्ष३६ की चर्चा की है लेकिन पतंजलि३७ ने सर्वज्ञता की स्पष्ट चर्चा की है। आधुनिक परामनोविद्या का भी इस ओर संकेत सारगर्भित है।३८

६. शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर सर्वज्ञ-सिद्धिः—

मीमांसकों ने शास्त्रान्तर्गत षड् प्रमाणों के बल पर सर्वज्ञाभाव की सिद्धि का प्रबल प्रयास किया है किन्तु जैन दार्शनिकों ने भी उसी सूक्ष्मता के साथ खंडन कर सर्वज्ञ सिद्धि की है जिसका विशेष व्यवस्थित एवं विशद विवेचन अष्ट सहस्री, न्याय कुमुदचंद्र, एवं प्रमेय कमल मार्त्तण्ड इन तीन जैन-न्याय के ग्रन्थों में हुआ है। अतः मीमांसा का पूर्व पक्ष एवं जैनों का उत्तर पक्ष अवलोकनीय हैं।

(क) प्रत्यक्ष प्रमाण—

प्रत्यक्ष अतीन्द्रियज्ञान का विषय नहीं है और वह केवल सम्बद्ध, वर्त्तमान एवं

34. प्रमाण वार्तिकालंकार–पृ० 329.

35. तत्त्व-संग्रह-का. 3329.

36. तर्क कौमुदी– पृ० 9; विश्वनाथ का भाषा परिच्छेद–अधिकरण–3; पदार्थ धर्म संग्रह पृ० १६५।

37. योग सूत्र- 1.2; 3.49; 4.29.

38. जे. बी. राइन, जी. एन. एम. टीरल, एच एच. प्राइस, चार्ल्स 'रीचेट, टीचनर, वेंरट, मेयर आदि के

प्रतिनियत रूपादिगोचर होता है।३९ जैनों का कहना है कि योगी प्रत्यक्ष सर्वज्ञता का या तो क्वचित् कदाचित् बाधक होगा या सर्वत्र सर्वदा बाधक होगा। यदि क्वचित् कदाचित् बाधक मानें तो इसमें जैनों को कोई आपत्ति नहीं क्योंकि वे भी यह नहीं कहते कि सर्वज्ञता का ज्ञान सदा सर्वदा रहता है, किन्तु यदि योगी प्रत्यक्ष को सदा सर्वदा बाधक मान लें तो यह सदा सर्वदा जानने वाला तो स्वयं ही सर्वज्ञ होगा। साधारण प्रादेशिक ज्ञान से सफल देशवर्ती ज्ञान, यानी सर्वज्ञता का खंडन, नहीं हो सकता।४० प्रत्यक्ष की निवृत्ति से यदि उसका अभाव सिद्ध करें४१ (क्योंकि स्वप्न में भी हम सर्वज्ञ को नहीं देखते) तो यह गलत होगा, क्योंकि प्रत्यक्ष सर्वज्ञता के ज्ञान का न तो कारण है न व्यापक है। प्रत्यक्ष के अभाव में भी वस्तु रहता है और प्रत्यक्ष की निवृत्ति से भी वस्तु विद्यमान रहता है। फिर मीमांसकों को यह पूछा जा सकता है कि सर्वज्ञताभाव केवल अपने प्रत्यक्ष की निवृत्ति से सिद्ध करते हैं या सभी के प्रत्यक्ष से? यदि केवल अपने प्रत्यक्ष की निवृत्ति से ही सिद्ध करते हैं तो यह गलत होगा क्योंकि जिन सूक्ष्म, अन्तरित या दूरस्थ वस्तुओं का भी हमें प्रत्यक्ष नहीं होता है वे भी चीजें रहती हैं। किन्तु वे यदि सब के प्रत्यक्ष की निवृत्ति से इसको सिद्ध करते हैं तो यह "सब" के प्रत्यक्ष को जानने वाला स्वयं सर्वज्ञ होगा।

(ख) अनुमान–

मीमांसकों के अनुसार सर्वज्ञत्व की सिद्धि अनुमान से भी संभव नहीं क्योंकि लिंग–लिंगी अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है। सर्वज्ञ के साथ स्वभाव या कार्यहेतु, दोनों असिद्ध हैं।४२ सर्वज्ञ का किसी के साथ कार्य नहीं पड़ता। अतः अनुमान प्रमाण भी लागू नहीं होगा।

जैन दार्शनिक विकल्प-पद्धति से तर्क उठाते हुए पूछते हैं कि मीमांसक सर्वज्ञ की "असत्ता" सिद्ध करना चाहते हैं या उसकी "असर्वज्ञता"। यदि सर्वज्ञ की असत्ता सिद्ध करना चाहते हैं तो वे अनुपलम्भ, विरुद्ध–विधि और वक्तृत्व इन्हीं तीनों को अपना हेतु मानेंगे।४३ अब यदि अनुपलम्भ हेतु माना जाय तो यह कार्य व कारण या व्यापक सम्बन्धी होगा। फिर यह अनुपलम्भ या तो स्व–सम्बन्धी होगा या सर्व–सम्बन्धी। माना कि यह स्व–सम्बन्धी है तो वह निर्विशेषण होगा या सविशेषण।४४ यदि निर्विशेषण माना गया तो सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं होगा क्योंकि सामान्य प्रत्यक्ष से पर–चित्त का ज्ञान संभव नहीं, अतः दूसरे के चित्त का अभाव हो जायगा। यदि सविशेषण माना जाय तो इसमें सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञाभाव सिद्ध हो जायगा लेकिन इस तरह सर्वज्ञ सर्वदा सर्वज्ञाभाव सिद्ध करने वाला स्वयं ही सर्वज्ञ

नाम प्रख्यात हैं।

39. मीमांसा श्लोक वार्तिक-सूत्र 2 पृ० 81; तत्त्व संग्रह–का 3186.
40. न्याय कुमुद चन्द्र–भाग १, पृ० 89.
41. तत्त्व संग्रह–कारिका-3271-3.
42. तत्त्व-संग्रह–पृ० 831।
43. स्याद्वाद रत्नाकर–382।
44. तत्त्व-संग्रह–पृ० 850।

होगा। लेकिन यदि अनुपलम्भ स्व–सम्बन्धी न होकर सर्व–सम्बन्धी हो तो भी यही दोष उठेंगे। सब की सर्वज्ञ सिद्धि का अभाव तो स्वयं सर्वज्ञता है।४५

"कार्याभाव" से भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि धर्मादि अशेष पदार्थों के प्रतिपादक आगम तो उसके कार्यरूप देखे ही जाते हैं। हां, मीमांसक आगम की अपौरुषेयता का सिद्धान्त मानते हैं जिसे जैनों ने खंडन किया है। व्यापकाभाव से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना भी ठीक नहीं क्योंकि सर्वज्ञ का व्यापक "सर्वसाक्षात्–कारित्वं" है, "सर्वार्थ परिज्ञान" नहीं।४६ आत्मा का सकल पदार्थों को ग्रहण करने का स्वभाव है और प्रतिबन्धक कारणों के क्षय हो जाने से सर्वज्ञता सहज संभव है।

अब विरुद्ध–विधि (साक्षात् या परम्परा विरोध) से भी सर्वज्ञभाव संभव नहीं।४७ पहले हम साक्षात् विरोध को लेते हैं तो वह विरोध यदि क्वचित् कदाचित् है तो इसके सर्वज्ञाभाव की सिद्धि नहीं होती और यदि सर्वज्ञ सर्वदा विरोध हो तो सर्वज्ञता स्वयं सिद्ध हो जाती है। परम्परा विरोध या तो सर्वज्ञ के व्यापक या कारण या कार्य के साथ होगा। यदि विरोध व्यापक का है तो वह यातो क्वचित् कदाचित् होगा या सर्वत्र–सर्वदा का विरोध होगा। इसमें भी उपर्युक्त तर्क लागू होंगे। लेकिन विरोध यदि कारण का हो और वह क्वचित् कदाचित् हो तो उसमें सर्वज्ञ सर्वदा का विरोध नहीं किन्तु यदि सर्वज्ञ सर्वदा विरोध मानें तो यह असंभव है क्योंकि सर्वज्ञता का कारण है ज्ञानावरणादि कर्मों का क्षय और इसका विरोध है इसका क्षय नहीं होना, तो यह किसी आत्मा में तो रह ही सकता है लेकिन सभी में नहीं।

कार्य विरोध भी सिद्ध नहीं होगा क्योंकि सर्वज्ञ का कार्य विरोध जानने वाला कोई आत्मज्ञ ही होगा और वह एकाध स्थान पर ही इसके कार्य का विरोध देख सकता है, सर्वज्ञ नहीं।

वक्तृत्वादि हेतु के कारण भी सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि वक्ता होने के कारण ही कोई सर्वज्ञ नहीं है तो यह स्ववचन विरोध है। जिस तरह सर्वज्ञ की असत्ता सिद्ध करने में स्ववचन विरोध है उसी प्रकार असर्वज्ञता सिद्ध करने में भी है क्योंकि जो यह कहेगा कि सब असर्वज्ञ हैं, वह तो स्वयं सर्वज्ञ सिद्ध हो जायेगा। वक्ता प्रमाण–विरोधी, प्रमाण–संगत या सामान्य तीन प्रकार के माने जाते हैं। यदि प्रमाण विरोधी वक्ता को मानें तो यह असिद्ध होगा क्योंकि सर्वज्ञ भगवान् असत्य बचन नहीं कर सकते।४८ यदि प्रमाण–संगत मानें तो सर्वज्ञ भी मानना होगा क्योंकि असर्वज्ञ ही प्रमाण–विरुद्ध बोलेगा। सामान्य–वक्ता

---

45. न्याय कुमुद चन्द्र–भाग 1, पृ० 81।
    प्रमेय कमल मार्त्तण्ड–पृ० 253-254।
46 प्रमेय रत्नमाला– पृ० 54।
    स्याद्वाद रत्नाकर–पृ० 370।
    प्रमेय कमल मार्त्तण्ड–पृ० 70।
47. तत्त्व संग्रह–पृ० 853; स्याद्वाद रत्नाकर–पृ० 382।
48. न्याय कुमुदचन्द्र–भाग 1. पृ० 93।
49. न्याय कुमुदचन्द्र–भाग 1, पृ० 93, तुलना प्रमेय कमल मार्त्तण्ड–पृ० 73; सन्मति टीका–पृ० ४५,

मानने से हेतु अनैकान्तिक हो जायगा। यदि कोई कहे कि सभी पुरुष असर्वज्ञ हैं तो फिर कोई सर्वज्ञ बचा ही नहीं। विपक्ष से व्यतिरेक सिद्ध नहीं होता इसीलिये निषेध का प्रश्न ही निरर्थक है। हां, रथ्याप्रभ में असर्वज्ञत्व एवं वक्तृत्व दोनों गुणों का समावेश कर व्यतिरेक बना लिया जाय तब पुनः स्ववचन विरोध होगा, क्योंकि सब पुरुषों की असर्वज्ञता में तो रथ्याप्रभ भी शामिल था। संक्षेप में, वक्तृत्वहेतु से सर्वज्ञताभाव सिद्ध होने पर व्यतिरेक सिद्ध होगा और व्यतिरेक सिद्ध होने पर असर्वज्ञत्व की सिद्धि। इस तरह चक्रक दोष होगा।५०

यदि हम कहें कि सब को सर्वज्ञ अनुपलम्भ है तो इसमें भी सब के विषय में जो जानेगा वह सर्वज्ञ सिद्ध होगा। जैमिनी कहते हैं कि अतीन्द्रिय ज्ञान और उसका धारक कोई नहीं है क्योंकि वह आकाश–कुसुम की तरह अनुपलब्ध है। लेकिन यह किसको अनुलब्ध है, लौकिक को या अन्य किसी को? और यह अनुपलब्धि किस हेतु से है?—सत्ता से, पुरुषत्व से या वक्तृता से? लेकिन इन तीनों हेतुओं को हम वेद में भी लगा सकते हैं क्योंकि वेदार्थज्ञ कोई भी उपलब्ध नहीं है। लेकिन यह स्थिति मीमांसकों के लिये अप्रिय होगी। अतः यदि वेदार्थ की सत्ता मानते हैं तो सर्वज्ञ को भी मानना ही पड़ेगा। जिस तरह प्रथम सर्वज्ञ का प्रश्न पूछा जा सकता है उसी प्रकार प्रथम वेदार्थज्ञ की भी चर्चा उठायी जा सकती है।

ग) उपमान–

मीमांसकों का कहना है कि उपमान से भी सर्वज्ञ की सिद्धि संभव नहीं।५१ क्योंकि उपमान के लिये सादृश्य चाहिये और सर्वज्ञ के सदृश प्रत्यक्ष में कोई मिलता ही नहीं, और जब उसकी प्रतीति नहीं है तो उसके सादृश्य की प्रतीति कहां से होगी? इसके उत्तर में जैन दार्शनिक इसी तर्क को उलट कर कहते हैं कि उपमान में से सर्वज्ञताभाव सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि सर्वज्ञ के सादृश्य का कहीं अभाव दिखायी नहीं पड़ता, अतः उसका अभाव भी असिद्ध ही रहेगा।५२ "सर्वज्ञ के सादृश्य" की बात करने वाले को यह समझना चाहिये कि सर्वज्ञ का वैशिष्ट्य उसके शरीर५३ में नहीं बल्कि उसकी आत्मा में है, अतः शारीरिक सादृश्य की बात से सर्वज्ञाभाव को प्रमाणित करना हास्यास्पद है।

(छ) आगम–

मीमांसक आगम प्रमाण से सर्वज्ञत्व की असिद्धि५४ करते हुए कहते हैं कि आगम या तो नित्य होगा या अनित्य। यदि हम नित्य आगम (वेद) को मानें तो उसमें सर्वज्ञत्व–सिद्धि के लिये वचन नहीं।५५ फिर नित्य आगम को भी अनादि या सादि माना जा सकता है। यदि

स्याद्वाद रत्नाकर–पृ० 384, प्रमेय रत्नमाला–57।

50. न्याय–कुमुदचन्द्र–भाग 1, पृ० 93; तुलना–न्याय विनिश्चय–पृ० 553।

51. तत्त्वसंग्रह–पृ० 831।

52. तत्त्वसंग्रह–पृ० 838; तुलना–बृहत् सर्वज्ञ सिद्धि–पृ० 136; प्रमेय पृ० 265।

53. न्याय कुमुदचन्द्र भाग 1, पृ० 94।

54. मीमांसा–श्लोक वार्तिक, न्याय रत्नाकर व्याख्या पृ० 82; तत्त्वसंग्रह कारिका 3187।

55. "हिरण्यगर्भ प्रवृत्य स सर्ववित् स लोकवित्"–यह वचन "अर्थवाद" है—न्याय–सूत्र 2/1/64; न्याय–भाष्य

हम अनादि नित्य आगम को सर्वज्ञ-सिद्धि का हेतु बनावें तो यह गलत होगा, क्योंकि अनादि आगम से आदि सर्वज्ञ की सिद्धि कैसे होगी क्योंकि सर्वज्ञ तो अनेकों हैं? और यदि नित्य आगम को सादि माना जाय तो नित्यत्व से सादित्व का आत्म-विरोध है। फिर अनित्य आत्म की बात रही, जो या तो सर्वज्ञ-प्रणीत होगा या असर्वज्ञ-प्रणीत। यदि सर्वज्ञ-प्रणीत आगम से सिद्ध करें तो अन्योन्याश्रय दोष होगा और यदि असर्वज्ञ आगम को ही प्रमाण मान लेते हैं तो फिर मेरे ही वचन को प्रमाण क्यों नहीं मान लेते, क्योंकि अप्रमाणित आगम एवं मेरे वचन में कोई अन्तर नहीं।[५६]

(च) अर्थापत्ति-

अर्थापत्ति से भी सर्वज्ञ की सिद्धि नहीं हो सकती[५७] क्योंकि इसके लिये किसी भी कार्य को सर्वज्ञ के बिना अनुपपन्न दीखना चाहिये, किन्तु ऐसा कोई भी कार्य नहीं जो सर्वज्ञ के बिना नहीं होता, अतः अन्यथा उपपत्ति से सर्वज्ञ-सिद्धि नहीं होती। हां, कोई ऐसा कह सकते हैं कि सर्वज्ञ के बिना धर्मोपदेश संभव नहीं।[५८] लेकिन उपदेश देने का कारण सर्वज्ञता नहीं बल्कि सम्प्रदाय विशेष के विस्तार का व्यामोह है। फिर उपदेश या तो व्यामोह पूर्वक होगा या सम्यक् ज्ञान पूर्वक। यदि प्रथम कोटि का उपदेश रहा तो उसका कोई मूल्य नहीं, जैसे स्वप्रचारी व्यक्ति की वक्तृता का कोई अर्थ नहीं है। किन्तु यदि उपदेश सम्यक् ज्ञान पूर्वक मानें तो जैसा मनु ने वेदज्ञान के आधार पर दिया है, तो ठीक है लेकिन बुद्धादि वैसा उपदेश नहीं दे सकते क्योंकि वे वेदज्ञान पूर्वक उपदेश नहीं करते। इसका प्रमाण है कि यदि वे वेद-ज्ञान पूर्वक उपदेश करते तो लोग उनके उपदेशों पर उसी प्रकार आचरण करते जिस प्रकार मनु के उपदेशों का करते हैं। अतः उन लोगों का उपदेश व्यामोह पूर्वक ही हुआ।[५९]

मीमांसकों के उपर्युक्त आरोपों के उत्तर में जैन दार्शनिकों का कहना है कि अर्थापत्ति के द्वारा भी सर्वज्ञ का अभाव सिद्ध नहीं हो सकता[६०] क्योंकि षड् प्रमाणों के द्वारा जाने गये अर्थों में ही अर्थापत्ति की प्रतीति होती है। वेद की प्रमाणता सर्वज्ञ होने पर ही सिद्ध होगी क्योंकि गुणवान वक्ता के अभाव में वचन में प्रमाणता नहीं देखी जाती।

अभाव-

मीमांसकों का कहना है कि अभाव से तो केवल अभाव ही सिद्ध होगा। फिर भी यदि हम मान लें कि सर्वज्ञ है तो वह समस्त काल की चीजों को अपने-अपने रूप से जानेगा या

पृ० 156, अर्थ संग्रह-देखिये-तत्वार्थ श्लोक वार्तिक पृ० 45; सन्मति टीका पृ० 96।
स्याद्वाद रत्नाकर-पृ० 364, शास्त्रवति समुच्चय टीका पृ० ४६।

56. न्याय-कुमुदचन्द्र-भाग 1, पृ० 95; प्रमेय कमल मार्त्तण्ड पृ० 264।
57. तत्त्वसंग्रह-का. 3218।
58. तत्त्वसंग्रह- का -3223, 3224, 3228।
59. प्रमेय कमल मार्त्तण्ड-पृ० 250।
60. तत्त्वसंग्रह-का. पृ० 849; आप्तपरीक्षा- का० 102;
स्याद्वाद रत्नाकर- पृ० 388, प्रमेय कमल मार्त्तण्ड-265।

वर्त्तमान रूप से।[६१] यदि अपने-अपने रूप से जानें (भूत को भूत, भविष्यत् को भविष्यत्) तो वर्त्तमान में प्रत्यक्ष हुआ नहीं कहा जायगा, क्योंकि वस्तु का विषय वर्त्तमान नहीं है। जो वस्तु का विषय वर्त्तमान नहीं है वह प्रत्यक्ष नहीं बल्कि स्मरण, कल्पना आदि होगा। यदि वह वर्त्तमान रूप से सब को जानता है तो उसका ज्ञान भ्रान्ति हो जायगा क्योंकि अन्यथा-स्थित रूप से पदार्थ को मानेगा, यानी भूत और भविष्यत् को वर्त्तमान रूप से जानेगा, जैसे द्विचन्द्रमा का ज्ञान होता है।[६२]

फिर "यहां पर सत् है"— इस वस्तु के ज्ञान में वस्तु सत्ता की तरह से प्राग्भाव या प्रध्वंसाभाव प्रतिभासित होते हैं या नहीं ? यदि प्रतिभासित होते हैं तो युगपत्[६३] या क्रम से ? यदि युगपत् माना जाय तो गलत होगा, क्योंकि जन्म-मरण एक साथ असंभव है। जो वस्तु जिस रूप में प्रतिभासित होता है उसका उसी रूप से व्यवहार होता है, जैसा नीली वस्तु का नीलरूप से। अतः सर्वज्ञ यदि प्राग्भाव (अतीत) और प्रध्वंसाभाव (अनागत) दोनों को युगपत्, देखता है तो यह ग़लत है चूँकि दोनों का एकसाथ रहना संभव नहीं। अतः युगपत् अभाव नहीं होगा। फिर दोनों की प्रतीति क्रम से भी नहीं हो सकती क्योंकि अतीत और अनागत कभी परिसमाप्त होगा ही नहीं, अतः उसकी सर्वज्ञता हो ही नहीं सकेगी।[६४]

जैन दार्शनिक उपर्युक्त बातों से सहमत नहीं हैं। इनका कहना है कि अभाव वहीं होता है जहां प्रमाण-पंचक की निवृत्ति होती है। फिर यह अभाव दो प्रकार का होगा—प्रसज्य प्रतिषेध या पर्युदास।[६५] प्रथम में आत्यन्तिक निषेध है, दूसरे में सापेक्ष निषेध। अब यदि प्रसज्य-प्रतिषेध अभाव से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करना चाहें तो उसमें अत्यन्ताभाव अवस्तु रूप होता है[६६] अतः उससे सर्वज्ञाभाव सिद्ध नहीं हो सकता। किन्तु यदि पर्युदास अभाव से सर्वज्ञाभाव सिद्ध करें तो एक के निषेध से किसी का सद्भाव करना होगा। इसमें पंच-प्रमाणों के द्वारा अभाव के कथन होने पर भी भाव रूप वस्तु ही वाच्य होती है। फिर इस पर्युदास पक्ष में भी दो हेतु हो सकते हैं—प्रमाण-पंचक-रहित या अन्य। यदि प्रथम स्वीकार करें तो उसमें भी दो विकल्प हो सकते है—सर्वथा-प्रमाण-पंचक-रहित या निषेध्य-विषय-सम्बन्धी प्रमाण-पंचक-रहित। यदि प्रथम विकल्प मानें तो वह प्रमेय की सिद्धि कहां से करेगा क्योंकि प्रमाण के बिना प्रमेय सिद्ध नहीं होता। यदि ऐसा हो तो प्रमाण की कल्पना ही व्यर्थ हो जाय। किन्तु यदि दूसरे विकल्प को लें तो वह आत्मा आपकी है या सब की ? यदि

61. न्याय कुमुदचन्द्र-भाग 1, पृ० 88; प्रमेय कमल-मार्त्तण्ड-पृ० 250।
62. न्याय कुमुदचन्द्र-भाग 1, प० 88; प्रमेय कमल-मार्त्तण्ड पृ० 250।
63. तत्त्वसंग्रह-का. 3248, 3249, 3250।
64. न्याय-कुमुदचन्द्र-भाग 1, पृ० 89।
प्रमेय कमल-मार्त्तण्ड- पृ० 250-1।
65. न्याय-कुमुदचन्द्र-भाग 1, पृ० 96।
66. तत्त्वसंग्रह-का०-पृ० 850; मीमांसा-श्लोक वार्तिक-अभाव परिच्छेद श्लोक-1; श्लोक-27।

अपनी मानें तो परचित्त के साथ उसका मेल नहीं, यदि सब की मानें तो सर्वज्ञ हो जायगा। इसी तरह निषेध्य सर्वज्ञ से भिन्न जो अन्य ज्ञान अल्पज्ञ होगा यदि उसको मानेंगे तो फिर इ अन्य ज्ञान के द्वारा क्वचित् कदाचित् सर्वज्ञ का निषेध करेंगे या सर्वत्र सर्वदा सर्वज्ञ का निषेध करेंगे ? यदि प्रथम पक्ष मानें तो इसमें किसी का विरोध नहीं; यदि द्वितीय पक्ष मानें तो सर्वज्ञता की स्वतः सिद्धि हो जाती है।६७

६. सर्वज्ञत्व-विचार पर आरोप एवं उनकी समीक्षा:-

सर्वज्ञता-सम्बन्धी ज्ञान-युद्ध वस्तुतः बौद्धिक प्रखरता का एक अद्भुत अध्याय है जिसमें मीमांसक, जैन एवं बौद्ध सब का योग रहा है। हम यहां पर कुछ थोड़े आरोपों पर विचार करेंगे।

(क) सर्वज्ञता की प्रकृति सम्बन्धी आरोप:-

(अ) यदि सर्वज्ञता का अर्थ सभी वस्तुओं का क्रमिक ज्ञान है तो यह असंभव है क्योंकि संसार की समस्त वस्तुओं का काल की अपेक्षा कभी लोप नहीं हो सकता, इसलिये ज्ञान सर्वदा अपूर्ण ही रहेगा।६८

उत्तर- "केवल-ज्ञान" क्रमिक नहीं युगपत् होता है, अतएव ऐसी कोई कठिनाई नहीं।

(आ) यदि सर्वज्ञ का ज्ञान युगपत् होगा तो निम्नलिखित कठिनाइयां होंगी:-

(१). युगपत् ज्ञान होने से सर्वज्ञ विरोधी वस्तुओं की अनुभूति एक ही६९ ज्ञानानुभूति से करेंगे जो सर्वथा असंगत है। अतः युगपत् भी नहीं होगा।

जैन दार्शनिकों का कहना है कि तर्कतः चाहे यह कितना ही असंगत दीखता हो किन्तु व्यवहारतः हम एक ही साथ निबिड़ अंधकार में प्रकाश की किरण देखते हैं। काले बादलों के बीच विद्युत् दीखता है। अतः दो विरोधी चीजें एक साथ दीखना संगत है।७०

(२). युगपत् ज्ञान सम्बन्धी दूसरी आपत्ति यह है कि यदि सर्वज्ञ केवल ज्ञान द्वारा एक क्षण में ही समस्त भूत भविष्यत् को देख लेता है तो फिर उसके लिये किसी वस्तु का ज्ञान होना बाकी नहीं रहता, अतएव वह तो अचेतन जैसा हो जायगा, चूँकि अब उसे कुछ जानना है ही नहीं।७१

किन्तु यह आरोप तभी सही होता जब सर्वज्ञ का प्रत्यक्ष एवं समस्त संसार दोनों का तत्क्षण विनाश हो जाता। वस्तुतः ये दोनों तो चिरस्थायी हैं।

(३) सर्वज्ञ चूँकि रागद्वेषादि का साक्षात्कार करता है अतएव वह स्वयं७२ रागद्वेष पूर्ण

---

67. न्याय कुमुदचन्द्र-भाग 1, पृ० 96-97 और प्रमेय कमल मार्त्तण्ड पृ० 265-268।

68. प्रमेय कमल-मार्त्तण्ड पृ० 254।

69. प्रमेय कमल मार्त्तण्ड-पृ० 259।

70. प्रमेय कमल मार्त्तण्ड-पृ० 254। तत्वसंग्रह कारिका-3247 से 3261 तक में सामत और योक्रमा (मीमांसकों की युक्तियां वर्णित हैं)।

71. आउट लाइन्स आफ जैनिज्म-मोहनलाल मेहता-पृ० 101; प्रमेय पृ० 254।

72. प्रमेय कमल मार्त्तण्ड-254, तत्वसंग्रह का. 3315।

हो जाएगा और उसकी वीतराग की स्थिति समाप्त हो जायगी। किन्तु यह आरोप भी सही नहीं है। रागादि हमारे मनोविकार से उत्पन्न होते हैं, ये आत्मा के गुण नहीं। फिर आसक्ति और आसत्ति का ज्ञान अलग है। जिस प्रकार मद्य के लाभ-हानि आदि को जानने वाला स्वभावतः मद्यपी नहीं हो जाता उसी प्रकार रागादि का ज्ञान हो जाने से ही रागासक्त नहीं हो जाता।

इसी तरह सर्वज्ञ को सभी अशुचि पदार्थों को जान लेने से ही रसास्वादन का दोष नहीं लगता। फिर सर्वज्ञ का ज्ञान तो अतीन्द्रिय होता है।७३ इन्द्रिय से जब सम्बन्ध नहीं तो फिर इन्द्रियासक्ति कैसे होगी? खैर, योगाचार तो बाह्य-संसार का अस्तित्व ही समाप्त कर इन सब झंझटों से छुट्टी ले लेते हैं।

(४) यदि सर्वज्ञता का अर्थ अखिल वस्तु पर्यायों का ज्ञान (जो कठिन है) न रख कर केवल प्रधान भूत वस्तुओं का ज्ञान माना जाय तो इसमें भी एक कठिनाई होगी; जैसे किन्हीं प्रधान वस्तुओं से अप्रधान वस्तुओं का भेद तबतक नहीं किया जा सकता जबतक हम संसार की समस्त वस्तुओं का परिज्ञान नहीं कर लें और समस्त वस्तुओं के परिज्ञान की भीषणता से बचने के लिये ही केवल प्रधान वस्तुओं का ज्ञान अपेक्षित समझा गया था। अतः यहां भी कठिनाई हो गयी है।७४

(५) यदि सर्वज्ञता के ज्ञान में अनादि और अनन्त झलकते हैं तो उनकी अनादिता या अनन्तता नहीं रह पाती।७५ इसके उत्तर में यह कहा जायगा कि जो पदार्थ जैसे हैं वैसे ही ज्ञान में प्रतिभासित होते हैं। किसी के स्वभाव को अन्यथा नहीं किया जा सकता, न अन्य रूप में वह केवल ज्ञान का विषय होगा।

(६) यदि सर्वज्ञता के ज्ञान में अतीत एवं अनागत (जिनकी वर्त्तमान में सत्ता नहीं है) का बोध होता है तो इसका अर्थ हुआ कि केवल ज्ञान में असत् वस्तु का बोध होने से वह विपर्यय एवं विभ्रम पूर्ण है। किन्तु यह आरोप लगाने वाले भूल जाते हैं कि अतीत की वस्तुओं की अतीत में वही सत्ता है जो वर्त्तमान कालिक वस्तुओं की है। इसी तरह भविष्य के विषय में कहा जा सकता है।

(७) किन्तु यदि अतीत और अनागत वर्त्तमान रूप से अनुभूत होते हैं तो फिर वर्त्तमान का अनुभव मानना चाहिये। किन्तु इसके विषय में तो पहले ही कहा जा चुका है कि अतीत का वर्त्तमान में अतीत रूपेण और अनागत रूपेण अनुभव किया जाता है। कर्मादि क्षय होने के कारण केवल ज्ञान को देश काल की बाधा नहीं रहती है।

(ख) वक्तृत्व सम्बन्धी आरोपः-

(१) मीमांसक अर्हन्त को इसलिये सर्वज्ञ नहीं मानते कि वह वक्ता है७६ और रथ्यापुत्र की

73. तत्वसंग्रह—का. 3318-9; तत्वसंग्रह का. 3381-89।

74. प्रमेय कमल मार्त्तण्ड-पृ० 254-255।

75 वही-पृ० 254-255।

76. मीमांसा श्लोक वार्तिक-चोदना सूत्र-श्लोक-158।

तरह साधारण व्यक्ति। किन्तु वक्तृत्व एवं सर्वज्ञत्व में कोई विरोध नहीं। ज्ञान की वृद्धि के साथ-साथ वक्तृत्व की प्रकर्षता इसको सिद्ध करती है। अतः यह आरोप गलत मानना चाहिये।७७

(२) चूँकि वक्तृत्व का सम्बन्ध विवक्षा से है, अतः वीतराग अर्हन्त में वक्तृत्व नहीं हो सकता। किन्तु उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वक्तृत्व एवं विवक्षा में अविनाभाव सम्बन्ध नहीं है क्योंकि सुषुप्त या मूर्च्छित व्यक्ति में विवक्षा का अभाव होने पर भी वचन की प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है और विपरीत, मूर्ख एवं मंद बुद्धि में कितनी भी विवक्षा रहने पर वक्तृता नहीं आती।७९

(३) अर्हन्त के वचन प्रमाण नहीं हो सकते क्योंकि अर्हन्त बुद्धादि की तरह एक व्यक्ति है। इसके उत्तर में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि वीतराग व्यक्ति के वचन ही यथार्थ माने जाते हैं। दूसरे तो झूठ भी बोल सकते हैं।८०

(ग) अन्य यौक्तिक आरोप एवं उत्तरः-

(१) चूँकि हमें किसी भी प्रमाण से सर्वज्ञ उपलब्ध नहीं होता अतः अनुपलम्भ होने से उसका अभाव मान लेना चाहिये। इसको तो सब से पहले माना नहीं जा सकता क्योंकि षट् प्रमाणों के आधार पर सर्वज्ञ की सिद्धि की है। फिर यह अनुपलम्भ किसको माना जाय—अपने को या सब को? यदि प्रश्न-कर्त्ता या संशय-कर्त्ता को यह अनुपलम्भ है तो कोई बात नहीं। दुनियां में उनके द्वारा अनुपलब्ध असंख्य पदार्थों का अस्तित्व है। लेकिन यदि संशयकर्त्ता यह कहते हैं कि "सब को सर्वज्ञ का अनुपलम्भ है" तो यह सब के ज्ञानों को जानने वाला सर्वज्ञ ही होगा, असर्वज्ञ नहीं। अतः सर्वानुपलम्भ असिद्ध है।८१

(२) यह कहा जाता है कि समस्त संसार में हम एक भी सर्वज्ञ नहीं देखते। किन्तु हमारा अज्ञान हमारा प्रमाण नहीं बन सकता। यह तो वैसा ही हुआ कि हम कहें कि जैमिनि आदि वेदों का मर्म नहीं जानते थे क्योंकि अभी हम उनके जैसा व्यक्ति नहीं देखते।८२

(३) आगम वर्णित साधनों से यदि सर्वज्ञता प्राप्त होती है और फिर सर्वज्ञ के द्वारा आगम कहा जाता है, तो दोनों परस्पराश्रित होने से असिद्ध हैं। इसका उत्तर होगा—"सर्वज्ञ आगम का कारक है। प्रकृति सर्वज्ञ का कारण पूर्व सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगमार्थ के आचरण से उत्पन्न होता है और पूर्व सर्वज्ञ का ज्ञान तत्पूर्व सर्वज्ञ के द्वारा प्रतिपादित आगमार्थ के आचरण से। इस तरह दोनों का बीजांकुर सम्बन्ध है। पुरुष अपना विकास कर जब सर्व

---

77. स्याद्वाद सिद्धि सम्पादक-दरबारीलाल, मा. च. दि. ग्रन्थमाला पृ० 29, जैन-दर्शन-पृ० 309-310।
78. मीमांसा श्लोक वार्तिक-चो. सूत्र-श्लोक-161।
79. वही-पृ० 29-30; जैन दर्शन पृ० 310।
80. स्याद्वाद सिद्धि—पृ० 30; अर्हत्सर्वज्ञ सिद्धिः श्लोक-16, 17, 18।
81. जैन दर्शन-पृ 310-311।
82. वही-पृ० 312-313; स्याद्वाद सिद्धि-पृ० 29।

हो सकता है तो उसी के गुणों से वचनों में प्रमाणता आयेगी।[83]

(४) यदि सर्वज्ञ को धर्मी बना कर भावात्मक हेतु दिया जाय तो असिद्ध हो जाते हैं, यदि अभावात्मक हेतु देते हैं तो विरुद्ध हो जाँयगे और यदि दोनों सर्वज्ञ के धर्म हैं तो अनैकान्तिक हो जायंगे। वस्तुतः यह शंका ही ग़लत है। हम सर्वज्ञ को नहीं "कश्चिदात्मा" को धर्मी बनाते हैं, अतः ये सारे दोष नहीं लगते। उदाहरणार्थ, हम कहते हैं–"कोई आत्मा सर्वज्ञ होगा। क्योंकि पूर्ण ज्ञान आत्मा का भाव है और उसके प्रतिबन्धक कर्मादिक्षय से हट सकते हैं।"[84]

(५) सर्वज्ञ के साधक एवं बाधक दोनों प्रमाण नहीं मिलते, अतः संशय स्वाभाविक है। उपर्युक्त चर्चा के आधार पर यह गलत है। सर्वज्ञ का त्रिकाल एवं त्रिलोक में अभाव कौन बता सकता है? जो स्वयं सर्वज्ञ है। अतः जो यह कहे कि कोई भी सर्वज्ञ नहीं है, इसका अर्थ है कि कम से कम वह अवश्य सर्वज्ञ है क्योंकि उसने सब को देखा है।[85]

८. सर्वज्ञता सिद्धि के कुछ प्रमाण: जैन ग्रंथों पर आधारित:–

शास्त्रीय प्रमाणों के अतिरिक्त विभिन्न जैन दार्शनिकों ने सर्वज्ञ–सिद्धि के कुछ अपने–अपने मौलिक प्रमाण उपस्थित किये हैं, हम उन्हीं का विवेचन करेंगे।

(क) आत्मा का स्वभाव : अनन्त ज्ञान:–

जीव स्वाभाविक अवस्था में अनन्त चतुष्टय को प्राप्त रहता है किन्तु ज्ञानावरणीय कर्मों के कारण कर्म–पुद्गल प्रभाव से इसका अनन्त ज्ञान आवृत हो जाता है। किन्तु जिस प्रकार मेघ हटने मात्र से ही सूर्य का अविच्छिन्न प्रकाश मिलता है उसी प्रकार ज्ञानावरणीय कर्मों के प्रक्षय होने से ही जीव को सब वस्तुओं का ज्ञान स्पष्ट हो जाता है। स्वामी विद्यानन्द[86] ने हरिभद्र कृत योग बिन्दु[87] से इस विषय का एक महत्वपूर्ण श्लोक "ज्ञो ज्ञेयेकथमज्ञः" उद्धृत कर उसकी तार्किक विवेचना कर सर्वज्ञ सिद्धि की है। अकलंक ने भी न्याय–विनिश्चय[88] में इसी तरह की अन्य रोचक उपमायें दी हैं। हां, बौद्धों का अनात्मवादी पूर्वाग्रह इस तर्क को स्वीकार करने में बाधक होगा। उनके अनुसार सर्वज्ञता के ज्ञान में विश्व का अनात्म रूप–ज्ञान होना चाहिये क्योंकि सत्ता को तो बौद्ध अनात्म रूप मानते हैं।[89] कमलशील ने शांतर–क्षित की तत्सम्बन्धी कारिका पर भाष्य करते हुए सर्वज्ञता का प्रमाणित मानकर अनात्मवाद

83. जैन दर्शन–पृ० 312, स्याद्वाद सिद्धि–पृ० 30।
84. जैन दर्शन–पृ० 313-314, न्यायावतार सूत्र वार्तिक–पृ० 51।
85. जैन दर्शन–पृ० 314।
86. अष्ट सहस्री–पृ० 50।
87. योग बिन्दु श्लोक-431-ज्ञो ज्ञेये कथमज्ञः स्यादसति प्रतिबन्धने।
88. न्याय–विनिश्चय–विवरणम्–द्वितीय भाग-सम्पा. महेन्द्रकुमार, ज्ञान पीठ भाग–2, पृ० 294 न्याय वि. 3/79, मलैरि मणि विद्धः– आदि।
89. तत्वसंग्रह-3337, 3338.

को प्रतिष्ठित करना[९०] चाहा जब जैन दार्शनिक आत्मवाद पर ही सर्वज्ञता प्रतिष्ठित करते हैं। अकलंक पूछते हैं कि जब अज्ञानावरण हट जाता है तो फिर जानने को रह ही क्या जाता है?[९१]

(ख) समन्तभद्र का अनुमेयत्व–प्रमाणः–

स्वामी समन्तभद्र[९२] ने सर्वज्ञता की सिद्धि इस अनुमान से की है—सूक्ष्म, अन्तरित और दूरवर्ती पदार्थ किसी के प्रत्यक्ष हैं क्योंकि वे अनुमान से जाने जाते हैं, जैसे अग्नि आदि। न्याय दीपिकाकार धर्मभूषण[९३] इसकी व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यहां "प्रत्यक्ष" का अर्थ "प्रत्यक्ष ज्ञान के विषय" विवक्षित है क्योंकि विषयी (ज्ञान) के धर्म (जानना) का विषय में उपचार होता है। सूक्ष्मादि अतीन्द्रिय पदार्थ चूँकि हम लोग अनुमान से जानते हैं अतएव वे किसी के प्रत्यक्ष भी हैं और जिसके प्रत्यक्ष हैं वही सर्वज्ञ हैं। कुमारिल प्रत्यक्ष को इन्द्रिय–जन्यता[९४] पर बल देकर कहते हैं कि उनका जब प्रत्यक्ष ही आवश्यक है तो अनुमेयत्व की पूर्वकल्पना व्यर्थ है। अकलंक इसके उत्तर में कहते हैं कि अनुमान का वही विषय है जो प्रत्यक्ष का विषय हो चुका है। चूँकि ईश्वरादिक सर्वज्ञ नहीं है इसलिये दूर अन्तरित पदार्थ अर्हन्त के परमार्थ प्रत्यक्ष है, क्योंकि प्रमेय है।[९५] इस तरह हम देखते हैं कि अकलंक ने सर्वप्रथम अनुमेयत्व के बदले प्रमेयत्व सेतु लाया।

(ग) ज्योतिर्ज्ञान विसंवाद–

जिस प्रकार ज्योतिष शास्त्र नक्षत्रों एवं सूर्य या चन्द्र ग्रहणों के विषय में निश्चित ज्ञान देता है उससे हम यह अनुमान कर सकते हैं कि बिना इन्द्रिय-वस्तु सम्पर्क के भी ज्ञान संभव है।[९६] इसी प्रकार प्रश्न–विद्या या ईक्षणी विद्या से अतीन्द्रिय पदार्थों का ज्ञान होता है उसी प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान अतीन्द्रिय पदार्थों का भासक होता है। यह भट्ट अकलंक की प्रमुख युक्ति है।

(घ) सुनिश्चित संभवद् बाधक प्रमाणः–

अकलंक ने इस हेतु का सर्वज्ञ सिद्धि के लिये प्रयोग कर इसे सबसे बड़ा प्रमाण माना है कि इसकी सत्ता में कोई बाधक प्रमाण नहीं है। इसी को संकेत कर स्वामी विद्यानंद[९८] ने

---

90. तत्वसंग्रह-3340।
91. न्याय विनिश्चय-कारिका 465।
92. आप्त मीमांसा कारिका 5।
93. न्याय दीपिका–पृ० 41, 42।
94. मीमांसा दर्शन-1.1.4
95. आप्त परीक्षा–का. 246।
96. न्याय-विनिश्चय का. 414। सिद्ध विनिश्चय टीका-पृ० 413। स्याद्वाद मंजरी-श्लोक-26। तुलना-तत्वसंग्रह-का-3166। आप्तपरीक्षा-का. 263।
97. न्याय विनिश्चय-प्रवचन प्रस्ताव का. 19।
98 आप्त परीक्षा–कारिका 93; मीमांसा श्लोक वार्तिक 4.5.84।

हा कि यदि छः प्रमाणों से सर्वज्ञ सिद्ध हो तो उसे कौन रोक सकता है ? आचार्य हेमचन्द्र९९ भी "बाधका भावाच्च" कह कर इसको समर्थित किया है। प्रभाचन्द्र१०० ने छहों प्रमाणों सर्वज्ञ सिद्ध कर दिखाया है।

च) प्रज्ञातिशय-प्रमाणः-

ज्ञान का तारतम्य ही सर्वज्ञ के अस्तित्व का बीज है।१०१ ज्ञान का भी मात्रा भेद ोता है जिसकी पूर्णाहुति सर्वज्ञता में होगी। सुखलाल१०२ जी इस प्रमाण का मूल योग-त्र१०३ में मानते हैं जिसे फिर न्याय-वैशेषिक-बौद्ध-जैन आदि ने लिया। किन्तु मीमांसकों का हना है कि ज्ञान चाहे जितना भी विकसित हो, उसकी अपनी सीमा तो है ही।१०४ चाहे मारा नेत्र कितनी ही प्रकृष्टता क्यों न प्राप्त करले लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि हम उससे ब्द का अनुभव कर सकें।१०५ बुद्धि, प्रतिभा आदि से जो भी अतिशयवान् देखे गये हैं वे यूनाधिक रूप से अतिशयवान् हैं नकि अतीन्द्रिय पदार्थों को देखने से।१०६ एक शास्त्र े ज्ञान में बड़े अतिशय देखे जाते हैं लेकिन दूसरे शास्त्र का ज्ञान उन्हें प्राप्त नहीं होता।१०७ ीमांसक पूछते हैं कि जो १५ फीट कूद सकता है उसके विषय में १५ मील कूदने की कल्पना र लें तो यह तर्क की टांग तोड़ना होगा।१०८ किन्तु मीमांसक यह भूल जाते हैं कि सर्वज्ञता ा ज्ञान इन्द्रिय ज्ञान की प्रकर्षता नहीं बल्कि अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति में है।१०९ केवल ज्ञान तो नन्त होता ही है। जैन परम्परा में इस युक्ति का प्रथम प्रतिपादन मल्लवादी११० ने किया, िर यशोविजय१११ आदि ने इसका उपयोग किया।

छ) अंश-अंशी प्रमाणः-

आचार्य वीरसेन११२ ने "जयधवला" में सर्वज्ञता की सिद्धि अंश-अंशी न्याय से की है। जस प्रकार पर्वत के एक अंश को देखने से पूर्ण पर्वत का व्यवहारतः प्रत्यक्ष माना जाता है,

---

99. प्रमाण-मीमांसा-1.1.17.
00. प्रमेय कमल मार्तण्ड-पृ० 247 से 266; न्याय कुमुदचन्द्र-भाग 1, पृ० 86 से 97।
01. प्रमाण-मीमांसा-1.1.16; स्याद्वाद मंजरी-(टीका)-श्लोक-17।
02. दर्शन और चिंतन पृ० 428।
03. पतंजलि का योग सूत्र "तत्र निरतिशय सर्वज्ञ बीजम्" 1/25।
04. तत्वसंग्रह-का. 3160-61।
05. वही-का. 3161-62।
06. वही-का. 3160।
07. वही-का. 3165।
08. वही-का. 3168।
09. वही-का. 3318-9।
10. दर्शन और चिंतन-पृ० 429।
11. ज्ञान बिन्दु-प्रकरण पृ० 19।
12. जैन दर्शन पृ० 308-9। जयधवला-आर.पत्र 866, अष्टशती-का. 3; न्याय-विनिश्चय-पृ० 465।

उसी तरह मति ज्ञानादि अवयवों को देख कर अवयवी रूप केवल ज्ञान स्वसंवदेन से होता है। आत्मा का स्वाभाविक केवल ज्ञान यहां मतिज्ञानादि रूप में प्रकट होता है।११३

९. सर्वज्ञता की संभावना: एक प्रयास:-

(क): विज्ञान के आदर्शों में सर्वज्ञता की संभावना–

विज्ञान विश्व का सुव्यवस्थित क्रमबद्ध ज्ञान है। इसका उद्देश्य अज्ञान और अनिश्चयता को दूर कर सृष्टि की संश्लिष्टताओं को समझना ही है। इसके ज्ञान की कोई सीमा नहीं। यह ठीक है कि रूढ़िवादी दर्शन–परम्परा की तरह यह सत्य के विषय में अंतिम निर्णय नहीं देना चाहता, किन्तु इसका आदर्श सृष्टि के समस्त रहस्यों का भेदन करना ही है। अतः यह सर्वज्ञता की एक स्वस्थ एवं सुदृढ़ परिकल्पना पर प्रतिष्ठित है। यह कहा जा सकता है कि आकांक्षा, उद्देश्य या आदर्श का सत्य एवं तथ्य के साथ अविनाभाव संबन्ध सामान्यतः नहीं होता है; लेकिन हम इसे चाहे बिल्कुल सत्य भले ही नहीं मानें किन्तु इसकी संभावना को तो, चाहे जितने भी अंश में, स्वीकार कर ही सकते हैं। आखिर ज्ञान–विज्ञान का विस्तार भी इसी क्रम से हुआ है।

(ख) परामनोविद्या में सर्वज्ञता की संभावनाः–

पातंजल "योग सूत्र" में एवं अन्य योग–ग्रन्थों में सर्वज्ञता की स्थिति को सत्य माना गया है। योग शास्त्र११४ के अनुसार सर्वज्ञता संयम, विवेक आदि से प्राप्य है। योगी–ज्ञान के लिये यह संभव है। खैर, यह तो पुरानी बातें हैं। परामनोविद्या की अद्यतन भूमिका में जब अतीन्द्रिय प्रत्यक्ष (क्लेयरवोयेंस, टेलीपेथी, क्लेयर आडीयेंस आदि=इन्द्रियेतर ज्ञान तथा प्राग्ज्ञान आदि) सम्बन्धी सहस्रों सफल अनुसंधान हो चुके हैं तो इससे सर्वज्ञता की संभावना बहुत हद तक स्वतः सिद्ध हो जाती है।

(ग) धार्मिक अनुभूति में सर्वज्ञता की संभावनाः–

"धर्म–मनोविज्ञान" ने भी धार्मिक अनुभूति११५ को स्वीकार किया है जो निश्चित रूप से इन्द्रिय अनुभूति से बहुत भिन्न है। धार्मिक रहस्यानुभूति की बात तो और ही है जहां विचार और वस्तु–जगत् एकाकार होकर ज्ञान–जगत् में एक विलक्षण सृजनात्मक अध्याय प्रारम्भ करता है। यह ज्ञान अकाट्य, अखंडित एवं निर्बाध होता है। इसीलिये तो धार्मिक पैगम्बर सर्वज्ञ माने गये हैं। अतः धार्मिक–आध्यात्मिक अनुभूति में सर्वज्ञता का अमिट संकेत है।

अष्ट सहस्री पृ० 50।

113. तुलना—Our phenomenal knowledge suggests a noumenal as a necessity of thought--राधाकृष्णन्--इंडियन फिलासफी--भाग 1, पृ० 509।

114 योग सूत्र-3 50; 3.14; 3 16; 3 44; 3.34.

115. राधाकृष्णन् कृत Idealistic View of Life-पृ० 84, देखिये Counter attack from the

(अ) निरपेक्षवाद में सर्वज्ञता की संभावना–

निरपेक्षवादी दर्शनों में सर्वज्ञता का बीज अन्तर्निहित है। जैसे उपनिषद् में, जहां आत्म को सर्व्वोच्च सत्ता माना गया है,११६ वहां उसका ज्ञान ही सब का ज्ञान करा देगा। इसीलिये ही कहा गया है "यः आत्मवित् स सर्ववित्।११७ अद्वैत वेदान्त में, जहां ब्रह्म को चरम सत्ता स्वीकार किया गया है, उसका ज्ञान ही सर्वज्ञता है; यां सर्वज्ञता तो "प्राज्ञ" स्थिति में ही हो जाती है। सर्वोच्च सत्ता का ज्ञान सर्वज्ञता से ही संभव है। ज्ञान एवं सत्य साथ–साथ चलते हैं। सर्वोच्च सत्ता के ज्ञान में सर्वज्ञता प्रतिफलित होगी ही। सर्वोच्च सत्ता के बाहर तो कुछ भी नहीं है, अतः इसके ज्ञान में सब का ज्ञान समाहित है।

(ब) ज्ञान की सर्व संग्राहकता में सर्वज्ञता की संभावनाः–

ज्ञान के अन्तर्गत सब कुछ है क्योंकि इसकी प्रकृति सर्व संग्राहकता है।११८ अतः ज्ञान की सीमा वस्तुतः हमारी अपनी सीमायें हैं, इसीलिये तो इसका क्रमशः विकास होता ही रहा है। मानवीय ज्ञान से परे पदार्थ अज्ञात रह सकते हैं लेकिन अज्ञेय नहीं क्योंकि अज्ञात को भी अज्ञात रूप से जानना ज्ञान ही है। इसीलिये संशयवाद और अज्ञेयवाद के लिये कोई गुंजाइश नहीं। प्रत्यक्ष की सीमा ज्ञान की सीमा नहीं है, इसीलिये जिसका प्रात्यक्षिक प्रामाण्य नहीं हुआ तो उसका प्रामाण्य होगा ही नहीं, यह भ्रान्त धारणा है।११९ अपने ज्ञान के विषय में कोई भी सीमा बांधना ज्ञान के उच्चतर गवाक्षों—कल्पना, चिंतन, कर्त्तव्यानुभूति, बौद्धिक एवं सौंदर्यानुभूति आदि की उपेक्षा कर अपने को ही झुठलाना है।

१०. उपसंहार:–

सर्वज्ञता का विचार हमें अंधविश्वास पूर्ण एवं रूढ़िगत इसलिये दृष्टिगोचर होता है कि हम में ज्ञान की स्वनिर्मित, संकुचित एवं परम्परा से प्रतिष्ठित सीमाओं के उल्लंघन के बौद्धिक साहस का अभाव है। हम ज्ञान के प्रस्तुत एवं प्रचलित गवाक्षों से ही विश्व की समस्त व्यूह रचना देखने के अभ्यस्त हो गये हैं। स्वभावतः हम सर्वज्ञता के स्वर्ग द्वार तक पहुंचने से वंचित रह जाते हैं। किन्तु हमें मानना चाहिये कि हमारे ज्ञान की मान्य साधनों की सचमुच अपनी निरीह सीमायें हैं। लेकिन अज्ञात अज्ञेय नहीं रह सकता, जबतक हम स्वयं अज्ञान के अनन्त अंधकार में अपनी विवशताओं में ही आबद्ध रहने का निश्चय न कर लें। ज्यों–ज्यों मानव ज्ञान की अपनी शक्ति का विकास करता जायगा, अज्ञान एवं अज्ञात के आवरण भी स्वयं दूर होते जायंगे। अतः मौलिक रूप से, ज्ञान की सम्पूर्ण संभावनायें, उपलब्ध या अनुपलब्ध मानवीय ज्ञान की शक्ति की सीमाओं में ही आबद्ध है।१२० आज ज्ञान के नवीन

East, by C.E.M. Joad, 79-80।

116. कौशीतिकी–4.19।
117. बृहद्–3.7.1; 4.5.6; प्रश्न 4.10–11.
118. Angus Sinclair, The Condition of Knowing, Lond, 1957, P. 13.
119. G. T. Ladd : Knowledge, Life & Reality, New Haven, 1918, P 98.
120. Soli R. abbles, His article "Higher Modes of Congnition of Instrument

उपकरणों का आविष्करण अत्यन्त अपेक्षित है। इसके लिये नवीन आकांक्षा एवं नयी दिशा चाहिये जिस से ज्ञानमीमांसा की प्रचलित जीर्ण-शीर्ण मान्यताओं में एक आधार-भूत परिवर्तन हो सके।

भागलपुर विश्वविद्यालय,
भागलपुर।

of Knowledge" in Proceedings of International Philosophical Congress, (Brussels 1953), P. 72.

प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में

प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप

नवजीवन रस्तोगी

भारतीय दर्शन में प्रत्यभिज्ञा का विशेष रूप से स्थिर आत्मा या विषयी को सिद्ध करने
में उपयोग हुआ है। अनात्मवादी मतों के, जिनमें बौद्ध प्रमुख हैं, विरुद्ध इस प्रमाण का
उपयोग यह बताने में किया गया है कि स्मृति और प्रत्यभिज्ञा आदि ज्ञान-प्रक्रियाओं को एक
स्थिर आधार की अपेक्षा होती है अतः धर्मों का अपलाप नहीं किया जा सकता[१]। वस्तु-
प्रत्यभिज्ञान के बल पर ही धर्म के बदल जाने पर भी धर्मी पहचान लिया जाता है।

प्रत्यभिज्ञा प्रमाण के संबंध में प्रचलित विचारों का तीन श्रेणियों में वर्गीकरण किया जा
सकता है। एक, जो "यह वही घड़ा है" इस ज्ञान को एक मानते हैं। इस श्रेणी में
नैयायिक आदि की गिनती होती है। दूसरे, जो इसमें ग्रहण और स्मरण के अंशों को
पृथक् मानते हैं, उनके लिए इस वाक्य में दो ज्ञान हैं। इसमें बौद्ध प्रमुख हैं। तीसरे,
जो इसे उभयात्मक मानते हैं। काश्मीर के त्रिक या प्रत्यभिज्ञा दर्शन को इस श्रेणी में रखा
जा सकता है[२]।

नैयायिकों की दृष्टि में प्रत्यभिज्ञा सविकल्पक प्रत्यक्ष का ही एक रूप है। एक वस्तु को
पहचानना, प्रत्यभिज्ञा करना, उसे एक निश्चित वस्तु के रूप में जानना है। इसलिए मोटे
तौर पर प्रत्यभिज्ञा सविकल्पक प्रत्यक्ष है। किन्तु पारिभाषिक अर्थ में हम प्रत्यभिज्ञान को
साधारणतया बिम्बात्मक या साम्प्रतिक और प्रतिरूपक या प्रतिबिम्बात्मक (प्रेज़ेन्टेटिव और
रि-प्रेज़ेन्टेटिव) प्रक्रियाओं की अंतःकरणवृत्ति (कॉम्प्लेक्स साइकोसिस) के रूप में लेते हैं।
जो कुछ भी हम देखते हैं उसी का पूर्व-प्रत्यक्ष के विषय रूप में स्मरण भी करते हैं और
दोनों मिलकर प्रत्यभिज्ञान का साधारणतया परिचित अर्थ देते हैं। इससे लगता है कि
प्रत्यभिज्ञा स्मृति के आधीन है और यह एक जटिल प्रक्रिया है। किन्तु नैयायिक का विश्वास
है कि यह जटिल अंतःकरण वृत्ति का क्षेत्र न होकर एक विशेषित अंतःकरणवृत्ति का क्षेत्र है[३]।
पूर्व प्रत्यक्ष वस्तु का उसी व्यक्ति द्वारा प्रत्यक्ष या ज्ञान प्रत्यभिज्ञान है जो "मैंने इस
वस्तु को पहले देखा है" के शब्दों में व्यक्त होता है। न्यायवार्तिक (३-२-३६, ३-२-४२)

---

१. धर्मिशून्यता के खंडन में व्यासभाष्यकार ने तीन युक्तियां दी हैं - स्मृत्यभाव, भोगाभाव और प्रत्यभिज्ञा।
अंतिम के संबंध में देखिए योगभाष्य ३-१४-"वस्तु प्रत्यभिज्ञानाच्च स्थितो योऽन्वयी धर्मी या धर्मान्यथात्वम-
भ्युपगतः प्रत्यभिज्ञायते। तस्मान्नेदं धर्ममात्रं निरन्वयमिति।"
२. मानमेयरहस्य श्लोकवार्तिक, लक्ष्मीपुर श्रीनिवासाचार्य, पृ० ३१०।
३. माइन्ड इन इंडियन फिलासफी, सरस्वती चेन्नकेशवन्, पृ० ७१।

से पता चलता है कि प्रत्यभिज्ञा केवल एक वृत्ति, एक प्रत्यक्षात्मक क्रिया मात्र नहीं है अपितु यह स्मरण–क्रिया से भी अत्यन्त भिन्न नहीं है। संस्कारजन्य स्मरण होता है और प्रत्यभिज्ञा यह जानना है कि इस समय दिखलाई पड़ रही चीज़ वैसी ही है जो पहले देखी जा चुकी है[४]। चूँकि प्रत्यभिज्ञा एक अवसर पर ही वस्तु से संबद्ध रहती है अतः वह एकतामूलक प्रत्यक्ष है। पदार्थ का पुराना अनुभव अपने संस्कार छोड़ जाता है जो वर्तमान इन्द्रिय संस्कारों को रंग देते हैं। यह एक प्रकार का प्रत्यक्ष है जहां प्रतिरूपक या संस्कार अंश की प्रधानता रहती है और प्रत्यक्षात्मक अंश गौण रहता है। भाष्य के शब्दों में, जब एक ही पदार्थ दो भिन्न समयों में होने वाले दो ज्ञानों से जोड़ा जाता है तो प्रत्यभिज्ञान जन्म लेता है[५]। नैयायिक के लिए प्रत्यभिज्ञा प्रत्यक्षात्मक और अव्यवहित है क्योंकि जो भी बहिरिन्द्रिय–उत्तेजना से जन्य है वह अव्यवहित और प्रत्यक्षात्मक होता है[६]। प्रत्यभिज्ञा में इन्द्रिय सन्निकर्ष और पदार्थ का व्यवधानरहित प्रत्यक्ष दोनों निहित हैं। इसलिए यह सारा अनुभव ही प्रत्यक्षमूलक और अव्यवहित है बावजूद इसके कि प्रस्तुत विषय (कॉन्टेन्ट) मन में छिपे अवचेतन संस्कार के योग से ही सार्थक बन पाता है। एक ही विषय के भूत और वर्तमान ग्रहण की सहचेतना ही प्रत्यभिज्ञा है[७-८]।

मीमांसक और जैन भी करीब करीब इसी श्रेणी में आते हैं। मीमांसक प्रत्यभिज्ञा को सामान्य सविकल्प प्रत्यक्ष से भिन्न नहीं करते। यह एक प्रकार का प्रत्यक्ष है जिसमें वस्तु का नाम उसका विशेषण बन जाता है, अर्थात् वस्तु उस नाम से विशिष्ट होती है जिससे उसे पुकारा जाता है : यह वह देवदत्त है। भर्तृहरि के मत से इसका काफी हद तक साम्य मिलेगा। जैन प्रत्यभिज्ञा के स्वतन्त्र अस्तित्व में विश्वास करते हैं। यह ज्ञान की स्वतन्त्र कोटि है। यह जानना कि पदार्थ का एक बार प्रत्यक्ष हो चुका है, प्रत्यभिज्ञा है। यह ऐक्यमूलक ज्ञान है। जैन उपमान को प्रत्यभिज्ञानरूप ही मानते हैं।

प्रत्यभिज्ञा में ग्रहण और स्मरण के अंशों को अलग अलग मानने वाले बौद्ध दार्शनिक की दृष्टि में वस्तु की प्रत्यभिज्ञा देश और कालकृत भेदों के बावजूद भी स्मृत और अनुभूत में सादृश्य के कारण होती है। एक क्षण से विशिष्ट दीपशिखा दूसरे क्षण से विशिष्ट दीपशिखा से भिन्न है फिर भी वह एक ही शिखा है, यह प्रतीति बनी रहती है। साधारण जीवन में एक व्यक्ति मूँछ–दाढ़ी, नख, रंग आदि में फर्क आ जाने पर भी उसी रूप में गृहीत होता है। भास्कर के शब्दों में, यह सादृश्य (अभेद नहीं) भेदप्राणसादृश्य है[९] क्योंकि विशेषकृत भेद

---

४. मितभाषिणी, पृ० २५, उद्धृत, वही पृ० ७३।

५. पूर्वापरयोर्विज्ञानयोरेकविषये प्रतिसंधितज्ञानं प्रत्यभिज्ञानम्। न्यायभाष्य-३-१-७।

६. न्याय सूत्र १-१-४।

७. पूर्वाभिज्ञानविशिष्टग्राह्यमाणयिष्यतां प्रत्यभिज्ञानम्। न्याय मंजरी पृ० ४६१।

८. अतीतकालविशिष्टो वर्तमानकालावच्छिन्नश्चार्थ एतस्यामवभासते। वही पृ० ४५६।

९. भास्करी, डा० पांडेय द्वारा सम्पादित, भाग १, पृ० ११२।

वस्तु के स्वरूप को छूते तक नहीं। वस्तु का स्वरूप या क्षण दूसरे क्षण से नितान्त भिन्न है। दोनों में एकता का भान बुद्धि–विकल्पमात्र है[१०]। देखा जाए तो हमारा सारा अनुभवजगत् इसी सादृश्य–प्रत्यभिज्ञा के सहारे चल रहा है। बौद्ध प्रत्यभिज्ञा को प्रत्यक्ष और स्मृति का यांत्रिक संघात मानते हैं। न तो यह दोनों का समन्वय है और न एकता। यह एक प्रकार का द्वैतज्ञान है जो क्रमशः दोनों पक्षों की ओर संकेत करता है।

प्रत्यभिज्ञा को उभयात्मक ज्ञान मानने वाले काश्मीर शैवदर्शन मे पहले हम एक आध दर्शनों की ओर देख लें। अद्वैतवेदान्त में प्रत्यभिज्ञा का स्वतन्त्र विवेचन नहीं के बराबर है, फिर भी ध्यान से देखने पर पता चलता है कि वहां भी यह अभेदज्ञान ही है। अद्वैत वेदान्त में "वह तुम हो" (तत्वमसि), "वही यह देवदत्त है" (सोयं देवदत्तः) आदि वाक्यों को अखंडार्थ का प्रतिपादक माना गया है। "यह वही देवदत्त है" वाक्य की यदि व्याख्या करें तो कोई संगत अर्थ निकालना असंभव सा लगता है। यह (अयम्) का अर्थ है—"वर्तमान समय और देश से अवच्छिन्न", अर्थात् इस समय यहां पर दिखाई पड़ने वाला; वह (सः) का अर्थ है—"अन्य काल व देश से अवच्छिन्न" अर्थात् कभी अन्यत्र देखा हुआ। चूँकि दोनों ही विशेषण परस्पर विरोधी हैं अतः यह "वही" नहीं हो सकता। दो भिन्न प्रकार से विशिष्ट होकर विशेष्य तार्किक दृष्टि से भिन्न हो जाता है। अतः एक ही रास्ता बच रहता है जिसमें ऐसे वाक्यों को सार्थक और संगत कहा जा सकता है: विशेष्य—देवदत्त के तादात्म्य को उपाधि हटाकर या निषेध कर समझना। इसी प्रकार औपनिषदिक महावाक्य "वह तुम हो" (तत्वमसि, जहां "तुम" का अर्थ है जीवचैतन्य और "वह" का अर्थ है पूर्ण चैतन्य) में अपेक्षित तादात्म्य दोनों विशेषणों (जीवत्व और पूर्णत्व) के निषेध और उभयनिष्ठ चैतन्य को बचाने से सधता है। इस प्रकार के वाक्य में अर्थ वस्तुतः बचा हुआ भाग है और विश्लेषण की इस पद्धति को जहत्–अजहत्–लक्षणा कहा गया है।[११]

विशिष्टाद्वैत का शंकर के इस मंतव्य से विरोध है। उसके लिए हमारा सारा प्रत्यक्षात्मक अनुभव निर्णयमूलक है—सविकल्पक, निर्विकल्पक दोनों ही। फिर भी सविकल्पक और प्रत्यभिज्ञा में अंतर है। "यह वह देवदत्त है" (प्रत्यभिज्ञा), इसमें एक ही पदार्थ का दो बार प्रत्यक्ष होता है जबकि सविकल्पक में एक तरह के कई पदार्थों का ज्ञान होता है। जहां दोनों में ही वर्तमान विषय समान रूप से पूर्व संस्कारों के उद्बोध से सम्पृक्त रहता है वहां प्रत्यभिज्ञा में व्यक्ति–अंश का भी संस्कार रहता है। और भी, जहां सारे प्रत्यक्ष में निर्णय निहित रहता

---

१०. अ– सादृश्याच्च तत्रप्रत्यभिज्ञाभिन्नेऽपि काय्केशनखादाविव—भास्करी (ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी), भाग १, पृ० ११२।

ब– साच केशनखादौ सर्वत्रैव भिन्ने भवन्ती न वस्तु अपेक्षते वस्तुनस्तथाभूतस्य अयोगादितिबाधकाधीनमेव-प्रत्यभिज्ञाप्रामाण्यमिति '—विरुद्धेन अन्योन्यभवनाक्षिपता धर्मेण योऽध्यासोऽधिष्ठानं। ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा–विवृति–विमर्शिनी, भाग १, पृ० १९२।

११. वेदान्तपरिभाषा, स्वामीमाधवानंद का संस्करण पृ० ३६–३७, १००–१०३; सिक्स वेज आफ नोइंग, डी० एम० दत्त, पृ० ३१९–२०।

है वहां प्रत्यभिज्ञा में समय और स्थान के भेद की ओर भी इशारा रहता है। न केवल प्रत्यक्ष की पहली स्थिति में सविशेष वस्तु का ज्ञान होता है बल्कि सारा का सारा ज्ञान—चरमसत्य के बोध समेत—आवश्यक रूप से सविकल्पक और सगुण वस्तु का ज्ञान है।१२ इस प्रकार "तत्त्वमसि" (वह तुम हो) जैसे वाक्य एकता के वाचक न होकर "वह" और "तुम" के सामानाधिकरण्य के वाचक हैं। "वह" असंख्य कल्याणगुणों के आश्रय ब्रह्म और "तुम" चित्–अचित्–विशिष्ट जीवशरीरक ब्रह्म का वाची है। सामानाधिकरण्य की विशिष्टवस्तुपरकता के दो तरीके हैं। "किंचित्–ज्ञता" और "सर्व–ज्ञता" आदि विरुद्धांशों का निषेध नहीं होता; क्योंकि एक ही पदार्थ का भूत और वर्तमान दो कालों से संबंध परस्पर विरुद्ध नहीं है—दूसरी जगह स्थिति "थी", यहां स्थिति "है"। विभिन्नदेशगत संबंध-विरोध तो काल–भेद के कारण नहीं होता। इसी प्रकार शरीर और आत्मा के रूप में जीव और परमात्मा का तादात्म्य विरुद्ध नहीं होता।१३

अब हम प्रत्यभिज्ञा व संबंधी विचारों की तीसरी कोटि की ओर आते हैं। प्रत्यभिज्ञा को प्रमाण और प्रमा के रूप में जो असामान्य महत्व काश्मीर के शिवाद्वयवाद में मिला है वह कहीं नहीं। सोमानंद द्वारा प्रवर्तित इस दार्शनिक संप्रदाय का नाम ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन पड़ गया है।१४ इस नामकरण के पीछे आत्मा की ईश्वर या अनुभव के चरम तत्व के रूप में प्रत्यभिज्ञा की कल्पना निहित है। "मैं वह हूँ" (सोऽहम्), "मैं ही वह अद्वयतत्व हूँ", यह चरम् प्रत्यभिज्ञा की अभिव्यक्ति है। अतः प्रत्यभिज्ञा के विषय के प्रति मोह का अपसारण और उसका (प्रत्यभिज्ञेय का) ज्ञान साधन इस दर्शन के अवान्तर प्रयोजन हो जाते हैं।१५

प्रत्यभिज्ञा की धारणा को ठीक से समझने के लिए त्रिक में प्रमाण के स्वरूप को समझना जरूरी है। न्याय या अन्य दर्शनों में प्रमाण वह ज्ञान–साधन है जो "नवीन", "अनधिगत" (अद्वैत वेदान्त में "अबाधित" भी) वस्तु का प्रकाशन करता है।१६ उद्योतकर आदि ने प्रमाण के ज़ोर से ईश्वर आदि की सिद्धि इसी प्रकार की है। परन्तु यह परिभाषा टिकती नहीं क्योंकि चेतन और कर्ता रूप में जो ईश्वर अनुमित होता है वह अपूर्व या नवीन नहीं है, क्योंकि व्याप्तिग्रह के अवसर पर सामान्यात्मना हर वस्तु का ज्ञान होता है। अतः वह ईश्वर भी सामान्यात्मना अपूर्व नहीं है। ज्ञान के एक विशिष्ट साधन का प्रयोग वस्तुतः पदार्थ का विशेषात्मना ज्ञान कराता है, उसकी अपूर्वता का नहीं, इसीलिए यहां प्रमाण का कार्य

---

१२. देखिए श्रीभाष्य, अएवंगराचार्य का संस्करण, पृ० ९६-९८; और भी, आउटलाइन्स ऑफ इण्डियन फिलासफी, हिरियन्ना, पृ० ३८७।

१३. सर्वदर्शन संग्रह, अभ्यङ्कर का संस्करण, पृ० १०१-१०४।

१४. ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा–कारिका १-१-१, ४-१-६७।

१५. भास्करी (ईश्वर प्रत्यभिज्ञा–विमर्शिनी), भाग १, पृ० ८, १६, ३४५; ईश्वर–प्रत्यभिज्ञा–विवृत–विमर्शिनी, भाग १, पृ० ४७।

१६. अपूर्व प्रकाशनरूपं तत्रज्ञानं यतो भवति, तादृक् प्रमाणं वक्तव्यम्। वही पृ० ४०।

पहले से ही सिद्ध वस्तु या प्रमेय के प्रति मोह का अपसारण मात्र है। "सामने घड़ा है क्योंकि दिखाई पड़ रहा है" – इस अनुमान से घट का ज्ञापन नहीं होता, वह तो प्रत्यक्ष से ही सिद्ध है, अन्यथा पक्ष में हेतु असिद्ध रह जाएगा। इस प्रकार प्रमाण न तो पदार्थ की सिद्धि करता है और न ज्ञापन, उसका एक निषेधमुख कार्य है—प्रमेय के प्रति मोह—आवरण का हटाना।[१७] यही कार्य प्रत्यभिज्ञा का भी है।[१८] इस आवरण को तोड़ कर प्रमाण वस्तु के सहज और वास्तविक स्वरूप तक पहुँचने की चेष्टा करता है, वैषयिक अस्तित्व की प्रतिष्ठा उसके कार्य क्षेत्र से बाहर है।

प्रत्यभिज्ञा एक ही वस्तु का फिर से (प्रति) जानना या पहिचानना (अभिज्ञान) है। यह ऐक्य ज्ञान है। प्रत्यभिज्ञा एक बार भात पदार्थ से इस समय भासमान पदार्थ के एकीकरण की प्रक्रिया है, जैसे इस निर्णय में—यह वही चेतराम है। यह "वहीपन" का अंश दो अनुभवों के ऐकात्म्य, नकि सादृश्य, का फल है। प्रत्यभिज्ञा के घटक शब्द प्रति, अभि और ज्ञा क्रमशः संस्कृत के प्रतीप या प्रतिसंधान, आभिमुख्य और ज्ञान के लिए प्रयुक्त हैं[१९]। प्रतीप का अर्थ है उल्टा, ठीक वही जो अंग्रेज़ी का "अपोज़िट" शब्द व्यक्त करता है (अपोज़िट माई हाउस—मेरे घर के सामने) अर्थात् जब विषय पलटकर पुनः सामने (अभिमुख) आता है उस समय उसका ज्ञान (ज्ञा) प्रत्यभिज्ञा कहलाता है।[२०] जो पहले भात था वही अब भासमान है, अतः प्रतिसंधान का अर्थ है एकीकरण। अभिप्राय है कि पहले जाने हुए पदार्थ से हमारा संपर्क बीच में छूट जाता है और पुनर्दर्शन के समय प्रथम संपर्क की स्मृति ताजी हो जाती है।

एकीकरण का शास्त्रीय शब्दावली में अर्थ है दोनों अनुभवों के बीच के मोह को हटा देना। अतीत में "क" देखा था, अब फिर उसे देखते हैं। यदि उससे हमारा संबंध बीच में न छूटता तो प्रतिफलित ज्ञान का आकार होता – "यह क है", परन्तु हमारे ज्ञान का आकार है—"यह वही क है।" यह प्रत्यभिज्ञान तभी संभव है जब वस्तु के साथ हमारा ज्ञान–संबंध पहले प्रत्यक्ष के बाद छूट गया हो। विषय के प्रति अनुभव की यह विच्छिन्नता या मध्य का बोधाभाव परवर्ती प्रत्यक्ष के अवसर पर दूर हो जाता है। प्रमेय विषयक मोह का अपसारण इसे ही कहते हैं।

परन्तु यह एकीकरण–प्रक्रिया एक ही अधिकरण पर घटित होनी चाहिए। दूसरे शब्दों में अनुभव और स्मृति की एक साथ क्रियाशीलता से उत्पन्न होने वाला यह ज्ञान उस एक

---

१७. न कारक व्यापारो भगवति नापि ज्ञापकः व्यापारोऽयम्, अपितु मोहापसरणमात्रमेतत् व्यवहारसाधनानां प्रमाणानां तावत्येव विश्रान्तेः। भास्करी (विमर्शिनी), भाग १, पृ० ५७ ५८।

१८. व्यवहारसाधनरूपं प्रत्यभिज्ञानं मोहापसारणफलम्। ई० प्र० वि० वि०, भाग, १ पृ० ३६।

१९. भात भासमानरूपानुसंधानात्मिका। भास्करी (विमर्शिनी), भाग १ पृ० ३६, उसी पर भास्करी "पूर्वं भातमद्य भासमानं तयोर्यदनुसंधानम्। एकीकरणम्"।

२०. यहां शब्द का विग्रह है-प्रति+अभि+ज्ञान, अन्यत्र है-प्रति+अभिज्ञान।

पदार्थ को विषय करता है जिसमें "यह" और "वह" अंश दोनों समन्वित हैं। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि इन्द्रिय-सन्निकर्ष और संस्कार-उद्‌बोध दोनों ही प्रत्यभिज्ञान के कारण हैं[२१]। स्मृति-संस्कार में विषय का पहला अनुभव अवचेतन में छिपा रहता है और इन्द्रिय के द्वारा विषय का निरीक्षण संस्कारों को उद्‌बुद्ध कर देता है। स्मृत और प्रत्यक्ष का विषय एक होने के कारण प्रत्यभिज्ञान में दोनों की एकता उभर आती है। इस दृष्टि से त्रिक धारणा प्रत्यभिज्ञा के बौद्ध मन्तव्य से भिन्न है जिसके अनुसार यह द्वैतज्ञान है और "यह" एवं "वह" अंश पृथक् पदार्थों के वाचक हैं। प्रत्यभिज्ञान एक ऐक्यमूलक "यह-वह" अंशों का एकीकृत ज्ञान है क्योंकि हमें दोनों का पृथक् ज्ञान न होकर उस एक का ही ज्ञान होता है जिसमें दोनों ही अंश घुल गए हैं[२२]।

न्याय में प्रत्यभिज्ञा को एकतामूलक माना गया है, अर्थात् ग्रहण और स्मरण के अंशों को पृथक् नहीं किया जाता। इसके लिए न्याय खास प्रक्रिया का आश्रय लेता है। वहां यह अतीत और वर्तमानकाल से विशिष्ट विषय का ज्ञान है। अर्थात् ज्ञान का विषय एक होने पर भी उसका ग्रहण दो कालों से विशिष्ट रूप में होता है। और भी स्पष्ट शब्दों में, प्रत्यभिज्ञा हमें ऐसे विषय का ज्ञान देती है जो इस समय वर्तमान है और अतीत के प्रति अपने संबंध से विशेषित है। यह ऐकिक (यूनीटरी) मानसिक वृत्ति है क्योंकि संस्कार-रूप प्रतिरूपक तत्व अलग न रहकर साम्प्रतिक अंश के साथ आत्मसात् हो जाते हैं ताकि हमें एक ज्ञानाकार (प्रिसेप्ट) दे सकें। यह सही है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन में भी पदार्थ दोनों ही कालों में रहता है—एक बार अतीत में और एक बार इस समय अनुभव के क्षण। परन्तु यहां अतीत और वर्तमान में एकता के लिए "उभयमेलनात्मक प्रक्रिया"[२३] का सहारा लेते हैं। पदार्थ का हमारा ज्ञान दो कालों से उपहित नहीं होता। यदि यह किसी से कुछ लेता भी है तो केवल समय के भिन्न बिन्दुओं पर होने वाले अनुभवों की एक-विषयता लेता है। स्मृति अर्थ की नहीं उसके अनुभव की होती है। "यह नीला है", यह अर्थ विषयक ज्ञान अनुभव है और यही दिखाई पड़ रहे पदार्थ की दृष्टि से स्मृति बन जाता है। "वह" के द्वारा स्मृतिमूलक अनुभव का ग्रहण होता है न कि अर्थ का। जब स्मृति और अनुभव दोनों ही इन्द्रियगोचर पदार्थ की ओर उन्मुख होकर एक-प्रत्यय का रूप धारण करते हैं, उस समय उनकी यह प्रत्ययमूलक एकता ही प्रत्यभिज्ञा है। दोनों अनुभवों के विषय की एकता तो दो परामर्शों के योग से सहज

---

२१. प्रतिसंधानेन अभिमुखे वस्तुनिज्ञानम्। भास्करी (विमर्शिनी), भाग १ पृ० ३६।

२२. स्मरणानुभवारूढा सामानाधिकरण्यधीः।
संस्कारेन्द्रियजन्या च प्रत्यभिज्ञा प्रकीर्तिता॥ यह उद्धरण किसी शैव ग्रन्थ से है। उद्धरण लेते समय ग्रन्थ का नाम रह गया जान पड़ता है।

प्रसंगवश एक बात और भी कही जा सकती है। दार्शनिक संदर्भ में शुद्ध विद्या की स्थिति में होने वाला अहम्-इदम् (मैं यह हूं) बोध भी सामानाधिकरण्यमूलक और प्रत्यभिज्ञात्मक है।

२३. ज्ञातस्य पुनरभिमुखीभावावसरे प्रतिसंधित प्राणितमेव ज्ञानं प्रत्यभिज्ञा। भास्करी (विमर्शिन), भाग १, पृ० ३७; देखिए इसी पर भास्कर की वृत्ति-प्रतिसंधिना सोऽयमिति एकीकरणेन, प्राणितं सत्तायुक्तं कृतम्।*

ही प्रतिफलित होती है।२४

इस प्रकार त्रिक दार्शनिक की दृष्टि में प्रत्यभिज्ञा नैयायिक की भांति सरल या एक वृत्ति (सिंगिल साइकोसिस) न होकर जटिल वृत्ति (कॉम्प्लेक्स साइकोसिस) है, क्योंकि यह भुलाना मुश्किल है कि प्रत्यक्ष और स्मरण वर्तमान संवेदन और पूर्व-घटित के संस्कार से जन्मते हैं। इन दोनों को एक में घपलाया नहीं जा सकता। यदि ऐसा कर दिया जाए तो प्रश्न उठेगा कि इस प्रकार प्रत्यक्षीकृत विषय का स्वरूप क्या है? यदि यह अतीत अनुभव का विषय मात्र है तो प्रत्यभिज्ञा और स्मरण में नाम भर का अंतर रह जाता है और उसकी वर्तमान प्रत्यक्ष विषयता की व्याख्या नहीं हो सकती। यहां यह केवल एक साम्प्रतिक घटना मात्र नहीं हो सकती क्योंकि इसका भूत में घटित किसी चीज के साथ तादात्म्य भी निहित है। अतः भात और भासमान का एकीकरण ही प्रत्यभिज्ञा है। भान या प्रत्यक्ष वस्तु के ज्ञान का कारण है और स्मृति अतीत अनुभव-विषय और वर्तमान अनुभव विषय के एकीकरण का।२५ यह निष्कर्ष इस बात की घोषणा है कि प्रत्यभिज्ञा का कुछ न कुछ अंश ज्ञानों और विचारों में अवश्य रहता है। केवल वर्तमान प्रत्यक्ष (सविकल्पक) में यह स्मृति अंश, प्रतिरूपक तत्व, इतना गौण हो जाता है कि उसका साधारण तौर पर दर्शन नहीं होता। प्रत्यभिज्ञा में यह स्मृति-अंश उभर आता है और साम्प्रतिक अंश को दबा हुआ ही छोड़ जाता है।२६ दूसरे शब्दों में, साम्प्रतिक अंश (यह) की व्याख्या स्मृति-अंश (वह) के आधार पर होती है। एक दूसरी स्थिति भी हो सकती है कि, स्मृति का अंश चेतन धरातल पर आ जाए परन्तु प्रतिरूपक अंश के प्रति आग्रह बना रहे। इस दशा से स्मृति अनुभव से गौण रह जाती है, पर यह गौणता का अंश सविकल्पक प्रत्यक्ष में होने वाली स्मृति अंश की नगण्यता से बहुत कम है। अतः जहां इस स्थिति में प्रत्यभिज्ञा का सविकल्पक प्रत्यक्ष से अंतर स्पष्ट है वहां स्मृति-अनुभव यह प्रधानगुणभाव प्रत्यभिज्ञा के उभयस्पर्शी होने पर भी उसे ऐक्यमूलक वृत्ति बनाए रखता है। प्रत्यभिज्ञा की पहली स्थिति में न्याय से त्रिक एकमत है पर दूसरी त्रिक की अपनी कल्पना है। इसीलिए ऐसा लगता है कि त्रिक दार्शनिक के लिए प्रत्यभिज्ञा एक जटिल वृत्ति है सरल नहीं, क्योंकि स्मरण के अंश की उपेक्षा संभव नहीं है। इसे उभयज, उभयमेलनात्मक कहकर वृत्तिजटिलता का ही संकेत किया गया है।

प्रत्यभिज्ञात्मक प्रतीति के दो घटक हैं—स्मृति और अनुभव। पूर्व अनुभव

२४, अनुसंधानम् स्मृतानुभूतयोरेकीकरणम्, प्रत्यभिज्ञानम् प्रत्यभिज्ञा, एतदुभयमेलनात्मकम्—प्राक्त नुभव-स्मरणवरामर्शमेलनस्वरूपम्। भास्करी, भाग, पृ १८८।

२५. अनुभवस्य भानं अयं नील इत्याद्यर्थस्य ज्ञानस्य यदेतत् भ नं, तन्नीलाद्यर्थव्यपेक्षया स्मृतिः। सोऽर्थस्य स इति स्मृतिमूलतानुभवः परामृश्येत। अर्थस्य भानं त्वनुभव इत्यर्थः द्वौ सह तौ एतौ स्मृत्यनुभवौ द्वावपि दृष्टचरार्थप्रतिसन्धानवेलायामेक प्रत्ययतापन्नौ अनुसंधानं प्रत्यभिज्ञोच्यते। (विरूपाक्ष पंचाशिका. ३६ पर विद्याचक्रवर्ती कृत टीका पृ. २१)।

२६. तदौन्मुख्यं बिना तदवस्थाग्रहणासंभवात् तत्प्रतिसंधानेन तत्स्मृत्या एकीकरणो न ज्ञान प्रत्यभिज्ञा। भास्करी (विमर्शिनी), भाग १ प्र० ३७।

के संस्कार हमारे अवचेतन में निहित रहते हैं। यही प्रत्यभिज्ञा का प्रतिरूपक अंश (रि-प्रेज़ेन्टेटिव फैक्टर) है। और दूसरा घटक है वर्तमान अनुभ जो प्रत्यभिज्ञा का साम्प्रतिक अंश है। अतीत अनुभव की व्यवहित और वर्तमान प्रती प्रत्यभिज्ञानात्मक प्रक्रिया के आवश्यक अंग हैं। साम्प्रतिक अंश का अनुभव तो अनिवार्य प्रत्यक्षात्मक है। प्रश्न है कि अतीत अनुभव का स्वरूप क्या है, यह भी प्रत्यक्षात्मक है उससे भिन्न। प्रत्यभिज्ञादर्शन में इस पर सीधे कुछ नहीं कहा गया है, फिर भी जो विवेच हुआ है उससे इस दर्शन के दृष्टिकोण का अच्छा परिचय मिल जाता है। अतीत में विष के ज्ञान के दो प्रकार हैं—या तो सामान्यात्मना ज्ञान हो और या फिर विशेषात्मना। "य कोई है" यह पहले ज्ञान का आकार है और "यह अमुक का लड़का, ऐसी शक्ल सूरत औ इन गुणों वाला है" यह दूसरे ज्ञान का आकार है। इस दर्शन के संदर्भ में पहली वि ज्यादा महत्वपूर्ण बताई गयी है। प्रश्न था कि पदार्थ का यह (अतीत) सामान्य या विशे ज्ञान प्रत्यक्षात्मक है? प्रत्यभिज्ञान की धारणा को समझने के लिये दिए गए उदाहरणों[२८] से य स्पष्ट है कि अतीत ज्ञान का प्रत्यक्षात्मक होना अनिवार्य नहीं है। अधिकतर संभावनाएं प्रत्य की ही हैं, परन्तु ऐसी स्थितियों का अभाव नहीं है[२९] जहां पूर्वज्ञान हमें युक्ति, आगम या श्रवण प्राप्त हुआ है। अर्थात् अतीत अनुभव व्यवहित भी हो सकता है और किसी से सुन कर या अनु मान से भी जान सकते हैं।[३०] इस प्रकार की शैव घोषणा हमें प्रत्यभिज्ञा के पाश्चात्य मंतव्य के काफी निकट ला देती है कि प्रत्यभिज्ञान स्मृति-चित्र या मानस-प्रतिमा और परवर्ती विष की तुलना से भी संभव है। किसी कारण से (जिनमें प्रत्यक्षेतर कारण भी शामिल हैं) अध्ययन, गुण-श्रवण, कल्पना से यदि कोई वस्तु-चित्र मन में खिंच गया है और बाद अनुभव-विषय से उसका साम्य या ऐक्य है तो प्रतीति का स्वरूप प्रत्यभिज्ञात्मक ही होगा।

इस प्रसंग में एक प्रश्न और उठाया जा सकता है कि प्रत्यभिज्ञा एक स्वतंत्र प्रमाण या अनुभव, युक्ति और आगम (प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द) में अंतर्भूत है। प्रत्यभिज्ञा के असामान्य महत्व के बावजूद भी उसे एक स्वतन्त्र प्रमाण न मानकर तीनों में (नकि किसी एक में) उसका अंतर्भाव किया गया है।[३१] प्रत्यभिज्ञा को विकल्प-ज्ञान माना गया है परन्तु सविकल्पक प्रत्यक्ष से उसे अलग रखा गया है। इसी विकल्पस्वभाव के कारण इसे कभ

---

२७. देखिए, माइन्ड इन इंडियन फिलासफी, पृ० ७४।

२८. भास्करी, भाग १, पृ० ३६-३७।

२९. देखिए अभिनवगुप्तः एन हिस्टॉरिकल एण्ड फिलॉसोफिकल स्टडी, डा० के० सी० पांडेय, दूसरा संस्करण, पृ० ३००।

३०. उदाहरण के लिए देखें, वही पृ० ३०१-३०२।

३१. इह दीर्घदर्शिना प्रत्यक्षानुमानागमान्यतमप्रमाणमूलां प्रत्यभिज्ञामाश्रित्य……। भास्कर (विमर्शिनी), भाग १ पृ० १९५।

यहां पर गृहीत अर्थ में प्रमाणमूल शब्द पर आग्रह स्पष्ट है।

३२. डिक्शनरी आफ फिलासफी, डी. डी. रूयून्स-संपादित. पृ. २६५।

प्रत्यक्ष[३३] तो कभी अनुमान[३४] से समीकृत किया गया है। यह सम्प्रदाय की दार्शनिक व्यंजनाओं से समंजस भी बैठ जाता है। क्योंकि सब प्रमाण मोहापसारण कर आखिर में आत्म-प्रत्यभिज्ञान ही कराते हैं।[३५]

त्रिक दार्शनिक इस बात में भर्तृहरि से सहमत हैं कि हमारी सम्पूर्ण बोध-प्रक्रिया प्रत्यभिज्ञात्मक है।[३६] "यह वह है" (सोऽयं) के द्वारा सामान्य विषय का ग्रहण होता है। संकेत-ज्ञान के समय का "वह" व्यावहारिक ज्ञान के "यह" से एक रूप हो जाता है। "गाय" प्रतीक, गाय लाने के समय "गाय" पदार्थ से एक हो जाता है। शब्द और अर्थ के एकीकरण की यही प्रक्रिया है। इस अंश में मीमांसक भी सहमत जान पड़ते हैं। इसीलिए सारे विकल्प-भेद अभिलाप या शब्द के भेद पर आधारित हैं। इस विकल्पज्ञान के अवान्तर भेदों में "वह" अनुसंधान में स्मृति, "वह यह है" अनुबोध में प्रत्यभिज्ञा, "मानो यह वही है" अनुबोध में उत्प्रेक्षा, "वही यह है" अनुयोग में व्यवच्छेद आदि की गिनती होती है। परन्तु सबका सामान्य स्वरूप विकल्पात्मक ही है। निर्विकल्प, सविकल्प, प्रत्यभिज्ञा, उत्प्रेक्षा--ज्ञान के इन विविध रूपों के काल, विषय और आकार भिन्न हैं।[३८] इसलिए प्रत्यभिज्ञा उत्प्रेक्षा आदि सभी को विकल्परूप माना गया है और उनसे होने वाले ज्ञानाकार भी अलग-अलग हैं।[३९] इसी प्रकार इन ज्ञानों की सविकल्पात्मक प्रकृति को उनके दैशिक व कालिक संबंध-भेद के बल पर भी समझाने की चेष्टा की गयी है। पूर्व देश और काल के योग से विषय का स्मरण, वर्तमान देश और काल के योग से अनुभव, दोनों के योग से संभाव्य रूप में उत्प्रेक्षा होती है।[४०]

प्रत्यभिज्ञा यद्यपि विकल्पज्ञान है फिर भी अधिक स्पष्ट शब्दों में उसे उभयज अर्थात् सविकल्प और निर्विकल्प दोनों से उत्पन्न होने वाला कहा गया है।[४१] अर्थात् प्रतिरूपक और साम्प्रतिक दोनों ही अंशों की सह-क्रियता से प्रत्यभिज्ञान फलता है। "वह" निर्विकल्पक

---

३३. प्रत्यक्षानुमानागमाद्यन्यतममानप्रत्यभिज्ञानबलेन......। ई० प्र० वि० वि०, भाग ३, पृ० २३३।

३४ निर्बाधप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्षप्रसाधितैकभावः पदार्थः। वही, पृ० २।

३५. एतेन शक्तीनाम् इच्छाज्ञानक्रियाणां प्रकाशकेन प्रत्यभिज्ञारूपेण व्यवहारसाधनपरार्थानुमानात्मना शास्त्रेण तं व्यवहारं प्रवर्तयतां तत्समर्थाचरणं क्रियते। भास्करी (विमर्शिनी), भाग १ पृ० १४३।

३६. प्रत्यभिज्ञा का अन्य प्रमाणों से ऊपर बताए गए संबंध को लेकर लेखक पूर्णतः निश्चित नहीं है। फिर भी उपलब्ध सामग्री के आधार पर ऊपर का निष्कर्ष सहज निकल आता है। इस समस्या को भावी अनुसंधान के लिए छोड़ा जा सकता है।

३७. सोऽयमित्यभिसंबंधाद्रूपमेकीकृतं यदा।
शब्दस्यार्थेन तं शब्दमभिजल्पं प्रचक्षते॥ वाक्यपदीय २-१३०।

३७. ई० प्र० वि० वि०, भाग १ पृ० ११५।

३९. भास्करी (वि) भाग १ पृ० ८६।

४०. आदिग्रहणात् प्रत्यभिज्ञोत्प्रेक्षाध्यवसायादिविकल्पेषु अपि यथायोगं तदिदमिति इदं तदिति तदिव इदमिति तदेव इदमित्यादिनिर्देश्यता मन्तव्या उभयतः। ई० प्र० वि० वि०, भाग २ पृ० १९।

४१. वही, भाग १, पृ० १४८।

और "यह" सविकल्पक ज्ञान का संकेतन करते हैं। घट का प्रकाश या अस्तित्वेन भान निर्विकल्पक है, घट का उसके विकल्पों या वैशिष्ट्य के साथ ज्ञान सविकल्पक है। उभयज कहकर प्रत्यभिज्ञा की प्रकृति को विश्लेषणात्मक ढंग से रखा गया है, परन्तु इससे प्रत्यभिज्ञान के विकल्प-स्वभाव में अंतर नहीं रहता। दो अनुभव-विषयों का सम्मिलन विकल्प-व्यापार ही है। निर्विकल्पक दशा में प्रमाण की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वह अभेद की स्थिति है, परन्तु सविकल्पक में भेद रहता है, प्रमाण-प्रमेय का द्वैत रहता है। प्रत्यभिज्ञा भी प्रमाण होने के नाते विकल्प-बोध बनती है।[४२] परन्तु इस भेद के पीछे छिपी दो अनुभवविषयों की एकता खंडित नहीं होती। दूसरे शब्दों में दो परामर्शों (स्मृति-अनुभव) का मिलन होता है और उससे विषय की एकता निष्पन्न होती है। भास्कर का बौद्ध-प्रत्यभिज्ञा को "भेदप्राणसादृश्यनिमित्तक"[४३] कहने का लक्ष्यार्थ यही है कि त्रिक-प्रत्यभिज्ञा अभेदप्राणसादृश्यनिमित्तक है। प्रत्यभिज्ञात्मक ज्ञानाकार "यह वह है" के दो घटक हैं—"वह" और "यह"। हम देखेंगे कि इनका अर्थ क्या है। दो संवेदन-विषयों के एकीकरण का अर्थ, हम पहले ही देख चुके हैं, है उनके मध्य के अवकाश को हटा देना। वस्तुतः अनुभव एक ही है, बीच में विस्मृति के आवरण से वह विच्छिन्न हो जाता है। यों तो दोनों अनुभव (अनुभव, स्मृति) विस्मृति के आवरण के कारण बीच में विच्छिन्न हो जाते हैं, फलतः दोनों में कालभेद भी हो जाता है, परन्तु प्रणिधान, पुनर्प्रत्यक्ष या अन्य किसी कारण से यदि पुराना अनुभव फिर से उद्बुद्ध हो जाए तो यह विच्छेद समाप्त हो जाता है, इससे कालभेद की संभावना भी नहीं रहती।[४४] और अगर काल रहता भी है तो प्रमाता और प्रमेय में समकालता रहती है, अर्थात् बोधक्षण में विषयि-विषय का सहभाव, वर्तमानकालता रहती है। कालभेद की बात इस दृष्टि से सधती है। हम जिसका "वह" शब्द से परामर्श करते हैं वह "उस समय" के अनुभव में बोध को विषयनिष्ठ बताता हुआ "इस समय" के बोध या परामर्श की विषयिनिष्ठता का प्रधान रूप से विषय करता है। योगी के लिए तो पूर्व ज्ञान के अर्थ में ही काल आरोपित है, अनुभव के समय अर्थ में काल का आरोपण नहीं होता क्योंकि अनुभव का काल वही है जो उस समय के प्रमाता का। जब इन दोनों (अतीतज्ञान और अनुभव) को मिलाकर विकल्प व्यापार चलता है, उस समय "वह यह है" यह प्रत्यभिज्ञान जन्म लेता है। उस प्रत्यभिज्ञा के भी दोनों में से एक के अनुवाद और एक के विधान के कारण दो भेद हो जाते हैं। अतीतज्ञान और अनुभव के एक साथ अनुवेदन व समान विधान से भी प्रत्यभिज्ञा के दो भेद हो जाते हैं।[४५] दूसरे शब्दों में, दोनों अंशों का समान महत्व भी हो सकता है अथवा दोनों

---

४२. घटप्रकाशं घटविषयं निर्विकल्पज्ञानम् विकल्पः सविकल्पज्ञानम्। प्रत्यभिज्ञा सोऽयमित्युभयजं ज्ञानम्, भास्करी (वि.), भाग १, पृ० ६४।

४३. ई० प्र० वि० वि० भाग १, पृ० ७५।

४४. भास्करी, भाग १, पृ० ११२।

४५. "यह" "वह" परस्पर विच्छिन्न अनुभव हैं। परन्तु प्रत्यभिज्ञा में "यह" "वह" हो जाता है।

में से एक की प्रधानता (विधान) और दूसरे की गौणता (अनुवाद) भी हो सकती है या इसका उल्टा भी हो सकता है। न्याय में प्रत्यभिज्ञा एक-वृत्ति ही रहती है क्योंकि स्मृति अंश का विधान होता है और अनुभव का अनुवदन। परन्तु यहां यह द्वैध-प्रक्रिया का मिलन व्यापार चलता रहता है। अतः यह एक जटिल वृत्ति बन कर आ पाती है।

प्रत्यभिज्ञान के तमाम अवान्तर भेद गिनाए गए हैं। स्मृत और अनुभूत पदार्थ के एकतानुसंधान की दृष्टि से सोलह और भेदानुसंधान की दृष्टि से चौंसठ भेदों की गिनती की गयी है। अनुभव की दो संभावनाएं हैं: एक तो "मैं देख रहा हूँ" जैसे स्थलों में, जहां आत्मपरामर्श पूर्वक विषय का परामर्श या ज्ञान होता है। यहां विषयी और विषय के ऐक्य पर जोर है। दूसरे "यह है" जैसे स्थलों में, जहां प्रत्यक्ष में विषय की प्रधानता है। यहां पर इच्छा न रहने पर भी वस्तु-बल से या किसी अर्थक्रिया के प्रति आग्रह विशेष से विषय का प्रत्यक्ष होता है। इस प्रकार प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है। चूँकि अनुभूत अर्थ का ही स्मरण होता है अतः स्मृति भी दो प्रकार की हो जाती है। अपने उपविभागों को लेकर यह स्मृति चार प्रकार की है। प्रत्येक अनुभव में दो दो परामर्श होते हैं: अनुभव-क्रिया (देखता हूँ-दृश्यते) और अनुभव-विषय (यह-अयम्)। दोनों प्रकार के अनुभव (स्वात्मपरामर्शपूर्वक विषय-बोध और प्रधानतया विषय-बोध) में इस प्रकार चार परामर्श हो जाते हैं। इनको लेकर स्मृति की चार विधाएं हो जाती हैं। अनुभव और स्मृति के इन्हीं छः भेदों में स्मृति और अनुभूत विषयों का एकीकरण रूप प्रत्यभिज्ञान, जिसमें अनुभव और स्मरण दोनों के परामर्श सम्मिलित हैं, अंतर्भूत है। अनुभव के दो भेद और स्मरण के चार भेदों के कारण प्रत्यभिज्ञा आठ प्रकार की हो जाती है, क्योंकि दो परामर्शों का सम्मिलन ही प्रत्यभिज्ञा का स्वरूप है। अतीत अनुभव की स्मृति चतुर्विध हो सकती है और वर्तमान अनुभव की द्विविध। फलतः प्रत्यभिज्ञा के आठ प्रकार सध जाते हैं। यद्यपि प्रत्यभिज्ञा दो अनुभव-विषयों का एकीकरण है, फिर भी कभी पूर्वकाल से अवच्छिन्न विषय पर आग्रह अधिक हो सकता है, कभी अपरकाल से अवच्छिन्न विषय पर।४६ "यह वही है" और "यही वह है" को क्रमशः दोनों के उदाहरण के तौर पर लिया जा सकता है। दूसरे शब्दों में, कभी प्रत्यभिज्ञा में साम्प्रतिक अंश प्रधान हो जाता है तो स्मृति-अंश गौण, कभी स्मृति अंश प्रधान हो जाता है तो साम्प्रतिक अंश गौण। इस आग्रहभेद के सोलह भेद फलते हैं।४७ परन्तु प्रत्यभिज्ञा चूँकि स्मृति और अनुभूत विषय

---

४६. तथा हि अनुभवं तत्कालं परामर्शस्य अर्थनिष्ठत्वात् मन्यमानः एतत्काल परामर्शस्य प्रमातृनिष्ठतां प्राधान्येन स्पृशति इदानींभवत इव ममनीलानुभवोऽभूदिति।...... यदा तु द्वयं एतत् संमील्य विकल्पयति तदा प्रत्यभिज्ञानं सोऽयमिति। तत्र च एकतरानुवादैकतरविधेश्च भेदद्वयम्, सममनुवादात् समं विधेश्च भेदद्वयम्, इत्यलं बहुना। ई० प्र० वि० वि०, भाग २, पृ० १६-१७।

भास्करी (वि०), भाग १, पृ० १८८-१८९ उस पर भास्करी भी।

४७. तदेते द्वाविंशतिः संवेदनभेदाः। चत्वारः स्मरणभेदाः, द्वौ अनुभवभेदो, षोडश प्रत्यभिज्ञाभेदाः। वही (वि.)।

के एकीकरण की प्रक्रिया है अतः इस ऐक्यानुसंधान में प्रमातृ अंश की प्रधानता रहती है, फलतः ज्ञानांश का भी प्रधानतया परामर्श होता है। परन्तु जिस समय हम दोनों को पृथक् रखते हैं उस समय दृश्य या विषय की प्रधानता रहती है और ज्ञान का आदर नहीं होता। इस प्रकार अनुभव में चार प्रकार का, स्मृति में सोलह और उभयस्पर्शी प्रत्यभिज्ञान में चौंसठ प्रकार का विषय का अंश होता है।[४८-४९]

अपने विषय की दृष्टि से प्रत्यभिज्ञा के दो भेद किए जा सकते हैं।[५०] प्रत्यभिज्ञा में होने वाले ज्ञानाकार दो तरह के हो सकते हैं—"वह मैं हूं" (सोऽहम्) और "यह मेरा है" (ममेद)। स्वाभाविक है कि ये प्रतीकात्मक ज्ञानाकार हैं। पहले प्रतीक में दो धर्मियों में एकता का अनुसंधान किया जाता है और दूसरे प्रतीक में गुण या धर्म का ग्रहण वस्तु-संबद्ध रूप में होता है। पहले को हम आत्म-प्रत्यभिज्ञान या धर्मि-प्रत्यभिज्ञान की संज्ञा दे सकते हैं और दूसरे को धर्म-प्रत्यभिज्ञान या आत्मीय-प्रत्यभिज्ञान की। धर्मि-धर्म-प्रत्यभिज्ञान की इस द्वैधता से परमार्थ-मीमांसा (मेटाफीज़िक्स) में अनुभवजगत् या विकल्पसृष्टि का आत्मतया या आत्म-आभासतया ग्रहण होता है। संप्रदाय की विशिष्ट शब्दावली में ऐश्वर्य-प्रत्यभिज्ञान ईश्वर-प्रत्यभिज्ञान में सहायक होता है।

प्रत्यभिज्ञा में वस्तु-बोध में शब्द भी कभी कभी सहकारी का कार्य करता है। साधारण जीवन में अक्सर ऐसे अवसर आते रहते हैं जहां हमें विश्वस्त कथन के आधार पर प्रत्यभिज्ञान होता है। "आप कौन हैं?" "तुम नहीं जानते, आप भारद्वाज हैं"—"अच्छा आप वही भारद्वाज हैं, चलिए खूब मुलाकात हुई"—इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञाएं आए दिन होती रहती हैं। दार्शनिक संदर्भ में यदि हम इसी बात को लें तो हम देखेंगे कि आत्म-तत्व की अवच्छिन्न प्रतीति यद्यपि हमारे स्वभाव का अंग है फिर भी उसके पूर्ण अहं-बोध के लिए हमें गुरू या शास्त्र के उद्‌बोधन की आवश्यकता पड़ ही जाती है।[५१] इस दृष्टि से वेदान्त का

---

४८. इह अभिसंधाने द्रष्टृभागबहुमाने च दृक् प्राधान्येन परामृश्यते।...... तथा हि अनभिसंधौ दृश्यभाग-बहुमाने च दृग्भागो न आद्रियते अपितु अर्थ भाग एवेति चतुर्धा अनुभवे, षोडशधा च स्मृतौ, उभयस्पृशि प्रत्य-भिज्ञाने च चतुःषष्टिधा......। ई० प्र० वि० वि०, भाग २, पृ० ५७-५८।

४९. प्रत्यभिज्ञान के पीछे जो मानसिक प्रक्रियाएं और अनुभव-क्रम छिपे हैं उनमें पैठने का आग्रह इस प्रकार स्पष्ट है। परन्तु अपने अध्ययन की इस अल्पायु में इससे अधिक कहने की स्थिति में अभी हम नहीं हैं।

५०. अ- "सोयं ममायं विभव इति प्रत्यभिजानतः।......" इति उक्तनयेन द्विविधां प्रत्यभिज्ञां दर्शयन्...। विज्ञान-भैरव-उद्योत, पृ० ९५।

ब- एवकारौ निपातौ प्रत्यभिज्ञाद्वैधं सूचयतः। वही पृ० ८६।

स- इति सिद्धा द्विविधा प्रत्यभिज्ञा। वही पृ० ९७।

द- तत्ईश्वरविषयं ममैवेदमैश्वर्यमिति प्रत्यभिज्ञाविषयीकार्यम्। भास्करी (वि), भाग १, पृ० ३४५-३।

क- ई० प्र० वि० वि०, भाग १, पृ० ४१।

५१ अ- भास्करी (वि०) भाग १, पृ० ३७।

ब- गुरूणा ईश्वरोऽहम् इति प्रत्यभिज्ञापित इति व्यवहारः संभवत्येव नान्यथा भ्रमितव्यम्। वही, पृ० ३८।

"दशमस्त्वमसि" (तुम्हीं दसवें हो) त्रिक में प्रत्यभिज्ञा का उदाहरण बनता है।

प्रत्यभिज्ञा प्रमाण से जो प्रमा जन्म लेती है उसका नाम भी प्रत्यभिज्ञा ही है। प्रमा है "तथात्वप्रकाश"—जो जैसा है उसका वैसा ही भान।५२ प्रत्यक्ष-प्रमा में वस्तु का यथातथ्य भासन होता है, अर्थात् नील के रूप में; सुख आदि आंतरिक वृत्तियों का उन्हीं के रूप में ग्रहण प्रत्यक्ष है—"यह नील है", "मैं सुखी हूँ" इत्यादि। लेकिन प्रत्यभिज्ञा-प्रमा में वस्तु का बोध अधिक स्फुट होता है—"यह वही नील है।" परमार्थमीमांसा में वस्तु का यह स्फुटतर बोध उसका तात्त्विक और सम्यक् स्वरूप-बोध है। यह वही है, अर्थात् अपने वास्तविक स्वरूप में यह अनुभव के चरम तत्व (महेश्वर) से एकरूप है।५३ इसका कारण यह बताया गया है कि ज्ञाता-ज्ञेय के मध्य प्रत्यभिज्ञान-संबंध साधारण संबंधों के स्वभाव को अतिक्रान्त कर तादात्म्य में पर्यवसित होता है, फलतः प्रमा और प्रमाता एक ही हो जाते हैं।५४

इसमें शायद् इस प्रश्न का उत्तर भी ढूँढा जा सके कि सविकल्पक बोध (प्रत्यभिज्ञा) से निर्विकल्पक प्रमा कैसे जन्म लेगी, क्योंकि चरम अहंबोध (सोऽहं) तो निर्विकल्पक है। वस्तुतः होता यह है कि ज्ञान की प्रकृति अर्थ की प्रकृति से निर्धारित होती है, अपने आप में तो ज्ञान विकल्पहीन है। ज्ञान-विकल्प अर्थविकल्प-जन्य है। काल आदि का आरोपण अर्थ में है, ज्ञान में नहीं (यह हम देख चुके हैं)। क्षण से पदार्थ विशिष्ट होता है, बोध नहीं। चरम प्रत्यभिज्ञा-प्रमा निर्विकल्पक है क्योंकि "अहं" प्रमेय निर्विकल्पक है। बोध में चूँकि विकल्प होते नहीं अतः चरम प्रत्यभिज्ञान की निर्विकल्पकता सध जाती है। इसीलिए साधारण प्रत्यभिज्ञा का विकल्पात्मक विषय होने के कारण उसकी प्रत्यभिज्ञा निर्विकल्पक न होकर सविकल्पक ही रहती है।५५ यह वही घड़ा है—यहां पर पूर्व अनुभव की प्रत्यावृत्ति और वर्तमान की अभिमुखता से जो ज्ञान हो रहा है उसमें दो घड़ों में एकता का अनुसंधान होने पर भी विकल्पता बनी रहती है। देश, काल आदि भेदों के बने रहने पर भी विकल्प की अपेक्षा चूँकि आकार की एकता का स्फुरण यहां अधिक होता है अतः साधारण-प्रत्यभिज्ञा की ओर पहला कदम मान लिया जाता है।५६ विकल्प का स्वरूप है दूसरे से व्यवच्छेद।५७

...- वही, भाग २, पृ० ३१४।

...- सर्वदर्शन संग्रह, पृ० २००-२०१।

५२. तथात्वेन नीलसुखादिभावेन प्रकाशः भानम् प्रमा। भास्करी, भाग १, पृ० ३४।

५३. तथाहि स्फुटतरभासमाननीलसुखादिप्रमान्वेषणद्वारेणैव पारमार्थिक प्रमातृलाभ इह उपदिश्यते। भास्करी (वि.), भाग १, पृ० ३४।

५४. एवमहमलौकिकः कश्चित् प्रमाता इति प्रत्यभिज्ञानात्मा यो विमर्शः—लौकिकसंबंधस्वभावितक्रान्त्या तादात्म्यपर्यवसितोपश्लेषः......। महार्थमंजरी-परिमल, पृ० ११; तुलना कीजिए, ईश्वरत्वप्रदर्शनं तद्व्यवहारसिद्धिनिबन्धनं प्रमाणं, ततो या प्रति पत्तिरीश्वरताविमर्शरूपा प्रमात्मिका। ई० प्र० वि० वि०, भाग १, पृ० १११।

५५. भिन्नं तात्कालिकमभिन्नं पूर्वावस्थया एकीकृतं देहादि यतोऽस्या विषयस्तत इयं न शुद्धो विकल्पो, नापि शुद्धः साक्षात्कारः अपितुच्छायामयी प्रत्यभिज्ञा, इत्युच्यते। ई० प्र० वि० वि०, भाग २, पृ० ३१४।

५६. भास्करी (वि०), भाग २, पृ० ३२७।

५७. अन्यवस्तुव्यवच्छेदप्राणोविकल्पो। वही (वृत्ति)।

साधारण अनुभव में प्रमाता–प्रमाता, प्रमेय–प्रमेय में भेद का भान होता है। जहां पर भी बोध का प्रतियोगी है,५८ अर्थात् उसका विषय अन्य विषय से भिन्न, व्यवच्छेद्य है वह ज्ञान हमेशा विकल्परूप होता है। चरम प्रत्यभिज्ञा (सोऽहम्–वह मैं हूँ) में जो "अहं" (मैं) है वा साधारण अहंबोध से इस अर्थ में भिन्न है कि पहला केवल संवित्रूप है जबकि दूसरा वेद्यपरामर्शी। समझाने के लिये इन्हें क्रमशः शुद्ध और अशुद्ध अहंविमर्श कह दिया जाता है। शुद्ध अहं बोध में कोई भी ऐसा प्रतियोगी नहीं है जिसका अपोहन या व्यवच्छेद किया जा सके, क्योंकि वह सम्पूर्णता का, प्रकाश मात्र का बोध है (अनुभव की इस समग्रता में हमारा सारा अनुभव-जगत् समाविष्ट है)। दूसरी ओर अशुद्ध या साधारण अहं–बोध में अहंतया ग्राह्य शरीर या वस्तु का दूसरे देह, घड़े आदि से भेद स्पष्ट है अतः वह विकल्परूप है। शुद्ध और अशुद्ध (चरम और दैनिक) अहंप्रत्यय में से प्रत्येक दो तरह का है – अनुभवरूप और अनुसंधानरूप निर्विकल्परूप "अहं" अनुभवमात्र हो (संप्रदाय में शिव की अवस्था) या "अहमिदम्" (य मैं हूँ) रूप दो की अभेद–योजना हो (सदाशिव आदि की स्थिति), अर्थात् अहं–प्रत्यवमर्श है या अहम्–प्रत्यभिज्ञान यह शुद्ध अहं की स्थिति है। इस "अहं" प्रत्यभिज्ञान (अहम्–इदम् में पूर्ण अहम् की ही इदन्तया आवृत्ति होती है। अतः व्यवच्छेद–वर्जना और पूर्णता कारण अनुसंधानात्मक होने पर भी यह निर्विकल्पात्मक स्थिति है।५९ इसी तरह साधारण या अशुद्ध अहंबोध में भी "मैं मोटा हूँ" यह अहम् के अनुभवमात्र का निदर्शन है। और "जो मैं मोटा था, वही दुबला हो गया हूँ" या "जो मैं लड़का था, युवा था, वही मैं बूढ़ा गया हूँ" यह अहम् का अनुसंधानात्मक या प्रत्यभिज्ञानात्मक ज्ञान है। ये दोनों ही स्थिति विकल्पात्मक हैं।६० साधारण अहं–प्रत्यभिज्ञान को, सारे अनुसंधानमूलक ज्ञानों, अर्था समस्त बाह्य प्रत्यभिज्ञाओं से, समीकृत किया जा सकता है।

प्रत्यभिज्ञा के दार्शनिक फलक को मनोवैज्ञानिक आधार देने की चेष्टा की गयी है। यदि आत्मा चरम तत्व से स्वभावतः एक है तो फिर प्रत्यभिज्ञा का कोई प्रयोजन नहीं रह जाता अधिक से अधिक प्रत्यक्ष से कार्य लिया जा सकता है। अतः आत्मप्रत्यभिज्ञान में कोई व्याव हारिक (प्रैगमेटिक) विवशता नहीं है। प्रत्यभिज्ञा दर्शन उत्तर में अर्थ क्रिया की दो कोटि मानता है—बाह्य और आंतरिक। बीज को कोई पहचाने या न पहचाने वह अंकुर तो दे ही (कहा जा सकता है कि विशिष्ट पेड़ को उगाने के लिए बीज के प्रत्यभिज्ञान की आवश्यकता है ही)। अंकुरादिरूप यह बाह्य अर्थक्रिया है और यहां प्रत्यभिज्ञान आवश्यक नहीं है परन्तु प्रमाता की प्रसन्नता और सन्तोषरूप की आत्मनिष्ठ अर्थक्रियाओं के लिए प्रत्यभिज्ञान

---

५८. प्रतियोगी-समकक्षतया प्रतिस्पर्धी। वही, पृ० ३१३।

५९. यदि हि तस्य देहादेः सर्वतः पूर्णत्वम् अवच्छेदहीनत्वं पश्यन् "अनुसन्धानम् अहमिदम्"इति विदध्य तदियं सदाशिवभूः केन विकल्पास्पदत्वेन भण्येत यावता विच्छिन्ने अनुसंधिः। भास्करी (वि०) भाग १,पृ. ३२६

६०. तत्र शुद्धे विकल्परूपत्वमप्रतिष्ठमेव इत्युक्तम्, अशुद्धे तु अनुभवरूपे विकल्पत्वमुपपादितम्, अशुद्धे ऽपि त अनुसंधानात्मकतया अभेदस्य प्रस्फुरणात् कश्चिदविकल्पत्वं शंकेत तस्य व्यामोह व्यपोहितुमाह......
योजना सर्वा कल्पना विकल्प एव, न तु शुद्धः प्रत्यवमर्शः। वही, पृ० ३२४-३२५।

महत्व की अवहेलना नहीं की जा सकती। "वह यह है" की भाँति, जहां तत्-त्व और इदं-त्व की एकता मुखर है, "सोऽहम्" ("वह मैं हूँ") में अहं-त्व और चरम तत्-त्व की एकता की जो अभिव्यक्ति है वह प्रत्यभिज्ञानात्मक है। और पहले में जहां ज्ञाता की मानसिक प्रतिक्रिया प्रसन्नता (दुःख, घृणा, तिरस्कार कुछ भी हो सकता है) है वहां दूसरे में यह पूर्ण आनन्द की स्थिति है। आशय यह है कि प्रत्यभिज्ञा से होने वाली ज्ञाता की मानसिक प्रतिक्रियाएं अन्य प्रमाणजन्य प्रतिक्रियाओं से भिन्न हैं और ये प्रतिक्रियाएं ही प्रत्यभिज्ञा के प्रमाण व्यापार को आवश्यक बनाती हैं।६१

प्रत्यभिज्ञादर्शन में स्वरूप बोध के लिए प्रत्यभिज्ञा को ही एकमात्र प्रमाण मानने के पीछे जो दार्शनिक तन्तु छिपे हैं हम उन्हें समझने की चेष्टा करेंगे। ज्ञान संबंधी प्रक्रियाएँ दो प्रकार की हो सकती हैं—एक ज्ञानात्मक (कॉग्निटिव) और दूसरी प्रत्यभिज्ञानात्मक (रिकॉग्निटिव)। पहली प्रक्रिया किसी भी विषय को चुनने में निहित है, अर्थात् वह विषय को चुनती है और तदितर का तिरस्कार, उपेक्षा या निषेध करती है। दूसरी प्रक्रिया में चयन नहीं है, वहां पूर्ण स्वीकृति है, अपने पिछले अनुभव का पूरा अनुमोदन, आवृत्ति है, अर्थात् वहां निषेध, बाध, तिरस्कार और उन्मूलन कुछ भी नहीं है।

भारतीय दर्शन के प्रायः सभी स्कूल, चाहे वह वेदान्त हो या सांख्य या न्याय हो, वहां चरम बोध की प्रक्रिया ज्ञानात्मक है। आत्म-ज्ञान स्वरूप-लाभ का पर्याय है। अतः अनुभव के एक विषय (आत्मा) का स्वीकरण है और अन्य (अनात्मतत्त्व) का निषेध या तिरस्कार।

"सर्वं खल्विदं ब्रह्म, नेह नानास्ति किंचन" में "सर्व" की ब्रह्मरूप एकता की घोषणा तो है पर "सर्व" की 'सर्वता' (नानारूपता) का निषेध है, किन्तु प्रत्यभिज्ञादर्शन में सभी पदार्थ शिवतया भी एक हैं और उनकी "सर्वता" भी सत् है : "सर्वपदार्थानां समैव शिवता स्थिता।" यहां पर निषेध, बाध या तिरस्कार अप्रासंगिक हो जाता है।

इस विश्लेषण से हम एक अन्य दिशा की ओर भी बढ़ते हैं। सांख्य, वेदान्त और न्याय एक विशेष सीमा के आगे नहीं बढ़ते। सांख्य में यह कैवल्य है, योग में निरोध, न्याय में स्वस्थता और वेदान्त में अविद्यानिवृत्ति। स्वरूपलाभ की प्रक्रिया सब में मोटेतौर पर ही एक है—आत्मा और अनात्मतत्व में विवेक करना, दोनों को पृथक् कर सकना। आत्म और अनात्म तत्व के स्वरूप और दोनों की पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया को लेकर इन दर्शनों में चाहे जितना मतभेद हो परन्तु मुक्ति या स्वरूप-बोध आत्मा को अनात्म तत्व से विविक्त करने पर ही संभव है, इसमें मतभेद नहीं। यह सारा मनो-भौतिक संस्थान और जगत् अनात्म-स्वभाव है और आत्मा में अध्यस्त, प्रतिबिंबित, संपृक्त या समवेत है। इसलिए दोनों का विवेक कहीं निषेधरूप है और कहीं निषेध जैसा है। अतः मुक्त अनात्मा का निरोध या निषेध है।

किन्तु प्रत्यभिज्ञा में स्वरूपबोध दो विरोधी बिन्दुओं (शिव और शक्ति) के समन्वय में है।

६१. भास्करी (वि), भाग २, पृ० ३१२-३१५; ई० प्र० वि० वि० भाग ३, पृ० ४०३; अनुत्तराष्टिका ४।

अतः यह दो तत्वों का सामरस्य है नकि दो में से एक का निषेध। इसलिए हमारे सांसारिक अनुभवों का विशुद्ध और अति-संसारी अनुभवों में उदात्तीकरण संभव हो पाता है। अनुभव का प्रत्येक स्तर स्वरूपबोध की ओर एक कदम है—जहां दोनों ही विरोधी सत् हैं। प्रत्यभिज्ञा इसी उपलब्धि की व्याख्या करती है जिसमें इदंता (अनात्मतत्व) और अहंता (आत्मतत्व) दोनों ही निहित हैं, दोनों ही विहित हैं और एक दूसरे से समंजस हैं।[६२]

लखनऊ वि. वि.

लखनऊ।

६२. तत्र दर्पणस्य इव अनेकाभासभेद एकतामनपबाधमानो न विरोधमावहति, इति उक्तेतिबोधप्रत्यभिज्ञाप्रत्यक्ष प्रसाधितैकभावः पदार्थ आभाससारस्तथाभूतानेव विरुद्धाकारान् स्वात्मनि उपगच्छन् क्रमिकांस्तानाभासभेदानात्मनि अभिन्ने भासयन्……। ई० प्र० वि० वि०, भाग ३, पृ० ३।

अवधारणाकोटि–भ्रम : एक विश्लेषण

अनिरुद्ध झा

गिल्बर्ट राइल अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि कांसेप्ट आफ माईंड' की प्रस्तावना में कहते हैं "इस पुस्तक के दार्शनिक तर्कों के द्वारा मन–सम्बन्धी ज्ञान की वृद्धि नहीं होती। इनका एकमात्र लक्ष्य है मन–सम्बन्धी ज्ञान के तार्किक भूगोल को शुद्ध करना।"[1] इनके अनुसार पूर्ववर्ती दार्शनिकों ने, प्रधानतः डेकार्ट ने, अपने मन–सम्बन्धी विचार में अवधारणाओं के व्यवहार को समझाने में गलती की है। इनकी दृष्टि से यह गलती इसलिए हुई है कि डेकार्ट ने मानसिक अवधारणाओं का भ्रमात्मक व्यवहार किया है। इन अवधारणाओं के तार्किक भूगोल को निश्चित कर ये डेकार्ट की गलतियों को शुद्ध करना चाहते हैं। उसी प्रस्तावना में आगे चलकर वे कहते हैं, "बहुत–से लोग अवधारणाओं का व्यवहार सार्थक रूप से कर सकते हैं, किन्तु उनके सम्बन्ध में सार्थक रूप से बात नहीं कर सकते। वे अभ्यास के कारण परिचित स्थलों में उनको व्यवहृत करना जानते हैं, किन्तु उनके व्यवहार–सम्बन्धी तार्किक नियमों को बताने में असमर्थ हैं।" गिल्बर्ट राइल ने ऐसे लोगों की तुलना उन लोगों से की है जो अपने इलाके के मन्दिर तक के रास्ते को जानते हैं तथा वहां पहुँच भी सकते हैं, पर यदि उन्हें उस इलाके का नक्शा बनाने को कहें और उस मन्दिर के स्थान को निरूपित करने को कहें तो वे इस काम के लिए असमर्थ पाये जायेंगे। इस पृष्ठभूमि में दर्शन के सम्बन्ध में उनका कहना है कि "दर्शन अभ्यासगत अवधारणा–व्यवहार की जगह अनुशासित अवधारणा–व्यवहार है।"

राइल के इन कतिपय कथनों से आधुनिक दर्शन, अर्थात् भाषा विश्लेषणात्मक दर्शन, का स्वरूप स्पष्ट रूप से निखर आता है। यद्यपि राइल अपनी पुस्तक में मानसिक अवधारणाओं के सम्बन्ध में विस्तृत रूप से विचार करते हैं, तथापि इनके कथनानुसार ऐसे विचार से मन–सम्बन्धी ज्ञान में तनिक भी वृद्धि नहीं होती। साधारण रूप से ऐसा समझा जाता है कि जब हम किसी विषय पर विचार करते हैं और उसका अध्ययन और मनन करते हैं तो ऐसा करने से उसके सम्बन्ध में हमारा ज्ञान कुछ न कुछ विस्तृत या गहरा होता है। पर राइल की विशद विवेचना से भी उन्हीं के अनुसार मन–सम्बन्धी ज्ञान में कोई विस्तार या वृद्धि नहीं होती है। उनके कथन से यह बात भी स्पष्ट होती है कि यद्यपि हम अक्सर अभ्यास के कारण विभिन्न अवधारणाओं का व्यवहार तो कर लेते हैं किन्तु उनके व्यवहार के तार्किक नियमों से बहुधा अनभिज्ञ रहते हैं। इसका फल अक्सर यह होता है कि इनका व्यवहार

1. Ryle, Gilbert. The Concept of Mind, p-7.
2. Ibid, p-7.
3. Ibid p-8.

भावात्मक स्तर पर भ्रमात्क रूप से हो जाता है। इनके अनुसार इनके पूर्ववर्ती दार्श
बहुधा इस तरह के भ्रम में पड़ते रहे हैं। अतएव इनके अनुसार दर्शन का मुख्य उद्देश्य
कि वह इन अवधारणा-सम्बन्धी कोटि-भ्रमों को दूर करे। इस विवेचन से निम्नलि
बातें दर्शन के सम्बन्ध में स्पष्ट हो जाती हैं: —

१. दर्शन किसी प्रकार का वस्तु-सम्बन्धी ज्ञान नहीं देता, क्योंकि इसका सम्बन्ध
प्रकार की वस्तु-स्थिति से नहीं है।

२. दार्शनिक तर्क किसी निष्कर्ष को प्रमाणित नहीं करता, बल्कि अवधारणाओं
व्यवहार के तार्किक नियमों का निरूपण करता है।

३. दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति अवधारणाओं के भ्रमात्मक व्यवहार से होती है

४. दर्शन का काम अवधारणाओं के उचित व्यवहार के प्रकाश में भ्रमात्मक व्यव
को दूर करना है।

५. दार्शनिक समस्याओं का समाधान नहीं होता, वे विलीन हो जाती हैं।

राइल के अतिरिक्त भाषा विश्लेषणात्मक दर्शन के अन्य समर्थ दार्शनिकों ने भी
के स्वरूप के सम्बन्ध में ऐसी ही बातें कही हैं। इस सम्बन्ध में वैज़मान कहते हैं, "
बात जो मैं कहना चाहूँगा वह यह है कि आज का प्रचलित दर्शन विज्ञान से भिन्न है। वे
तीन हैं: दर्शन में प्रमाण नहीं होते, इसमें साध्य नहीं होते, और न इसमें ऐसे प्रश्न ही
हैं जिनका 'हाँ' या 'न' में निर्णय किया जाय।"[४] दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति,
अनुसार भी, अवधारणाओं के भ्रमात्मक व्यवहार से होती है। पहले के दार्शनिकों ने,
संत आगस्टाइन, कांट आदि ने काल-अवधारणा-सम्बन्धी उलझनों को सुलझाने की को
की है। वैज़मान का कहना है कि आज का दार्शनिक इस समस्या के सम्बन्ध में क
"यह मत पूछो कि काल क्या है, तुम्हें पूछना चाहिए कि 'काल' शब्द का प्रयोग किस प्रकार
है?"[५] दर्शन के सम्बन्ध में इस तरह के विचार को स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं, "जब
दार्शनिक किसी प्रश्न को निपटाना चाहता है तो एक बात जो उसे करनी चाहिए वह य
कि प्रश्न का उत्तर न दे। दार्शनिक प्रश्न का समाधान नहीं होता, वह विलीन हो जाता
और वह विलीन किस प्रकार होता है? जिन शब्दों में प्रश्न पूछा जाता है उनका अर्थ इ
स्पष्ट कर दिया जाता है कि शब्दों के भ्रमात्मक प्रभाव से हम लोगों को मुक्ति मिल जाती
शब्दों के व्यवहार या उनके व्यवहार के नियमों को जान लेने से भ्रम दूर हो जाता है:
का कारण भाषा का भ्रमात्मक व्यवहार या उनके व्यवहार के नियमों के सम्बन्ध में भ्रम
था।"[६] इस तरह के अनेक उद्धरण भाषा विश्लेषणात्मक दार्शनिकों के कथनों से दिए
सकते हैं। इस प्रकार के सभी दार्शनिक यही समझ बैठे हैं कि दार्शनिक समस्याओं
उत्पत्ति भाषा के भ्रमात्मक व्यवहार से होती है। अतएव इनका यह पुनीत कर्त्तव्य हो ज

---

4. Waismann, F. Contemporary British Philosophy. p-447.
5. Ibid-p-453

है कि अवधारणाओं के उचित व्यवहार को साधारण भाषा के आधार पर उपस्थित करें। इनकी धारणा है कि ऐसा करने से दार्शनिक समस्याएं आप से आप विलीन हो जाती हैं और उनके समाधान का कोई प्रश्न ही नहीं रह जाता।

२

इस दिशा में राइल ने भगीरथ प्रयत्न किया है। मन-सत्ता के विलीन करने के उद्देश्य से उन्होंने 'मन की अवधारणा' नाम की प्रख्यात पुस्तक लिखी है। इनके अनुसार डेकार्ट ने मानसिक अवधारणाओं के विवेचन में कोटि-भ्रम किया है, जिसके कारण उसने मन-सत्ता का स्वतंत्र अस्तित्व आध्यात्मिक सत्ता के रूप में माना है।

जब से इनकी यह पुस्तक प्रकाशित हुई उस समय से दार्शनिक विवेचन के क्षेत्र में कोटि-भ्रम का नारा गूँजने लगा है। विभिन्न प्रकार के भाषा विश्लेषणात्मक दार्शनिक दर्शन की प्राचीन और आधुनिक समस्याओं पर जोरों से विचार करने लगे हैं। फिर से दर्शन के क्षेत्र में पार्मिनिडीज़, जेनो, आगस्टीन, डेकार्ट, कांट, ब्रेडले आदि के तत्त्व-विचारों की चर्चा होने लगी है। ये विश्लेषणात्मक दार्शनिक सभी क्षेत्रों में यह बताने की चेष्टा कर रहे हैं कि उन दार्शनिकों की समस्यायें कोटि-भ्रम के कारण उत्पन्न हुई हैं। इस दोष को जान लेने के बाद समस्यायें आप-से-आप विलीन हो जाती हैं। ऐसा लगता है कि उन दार्शनिकों ने जिस कुहासे को भाषा के भ्रमात्मक व्यवहार के कारण उत्पन्न किया वह कुहासा सहसा विश्लेषणात्मक दर्शन की प्रखर किरणों से फट रहा है। किन्तु, निराश होना पड़ता है जबकि इस प्रकाश में कुछ दिखाई नहीं देता। यह पता नहीं चलता कि किस तत्व को प्राचीन दार्शनिक कृत अंधकार आच्छादित किए हुए था, जो अन्धकार फट जाने पर अब दिखाई दे रहा है। आधुनिक दर्शन के क्षेत्र में कोटि-भ्रम रूपी नारे का इतना प्रभाव है कि इसका विवेचन आवश्यक हो जाता है।

इस नारे की व्याख्या करते हुए राइल कुछ उद्धरण प्रस्तुत करते हैं जिनके द्वारा इसका अर्थ स्पष्ट होता है। इनमें से एक उदाहरण की चर्चा यहां की जाती है:—

कोई विदेशी ऑक्सफोर्ड या केम्ब्रिज पहली बार जाता है। उसे विभिन्न कालेज, पुस्तकालय, व्यायामशाला, जादूघर, प्रयोगशाला आदि दिखाए जाते हैं। इन सब को देखने के बाद वह प्रश्न करता है—विश्वविद्यालय कौन-सा है? मैंने तो अन्य सारी चीजें देखीं किन्तु विश्वविद्यालय नहीं देखा। इस उदाहरण का विश्लेषण करते हुए राइल का कहना है कि वह विदेशी विश्वविद्यालय-अवधारणा का व्यवहार नहीं जानता है। वह समझता है कि कालेज, पुस्तकालय आदि जिस कोटि की अवधारणायें हैं, विश्वविद्यालय भी उसी कोटि की अवधारणा है। अतएव, उसके अनुसार इस तरह का कथन 'कालेज, पुस्तकालय, जादूघर तथा विश्वविद्यालय' उचित कथन होगा। उससे इस प्रकार की गलती इसलिए होती है कि वह यह नहीं जानता कि जिन सारी चीज़ों को उसने देखा है विश्वविद्यालय उनकी व्यवस्था है, नकि उन विभिन्न वस्तुओं में से एक वस्तु। जिस प्रकार का भ्रम भाषा

के प्रयोग में उपर्युक्त विदेशी से हुआ उसे राइल कोटि-भ्रम कहते हैं। भाषा के इस भ्रमात्मक प्रयोग के कारण ही उसने प्रश्न किया कि विश्वविद्यालय कहां है? अपने भ्रम को जान लेने के बाद उसका प्रश्न विलीन हो जाता है।

इस तरह के और भी अन्य उदाहरणों से यह स्पष्ट होता है कि जब कोई व्यक्ति किसी शब्द या अवधारणा के अर्थ को नहीं जानता है तभी उससे इस प्रकार की भूल होती है। अब यह बताकर राइल ने कोई बहुत बड़ी बात नहीं कही। बच्चे अक्सर विभिन्न शब्दों के व्यवहार में, उनके अर्थ न जानने के कारण, गलती करते हैं। राइल के अनुसार, डेकार्ट द्वारा मन-सत्ता के स्वतंत्र अस्तित्व को मानना कोटिभ्रम है। राइल का कहना है कि डेकार्ट मन और शरीर अवधारणाओं का प्रयोग इस प्रकार करते हैं जैसेकि मन और शरीर दो स्वतंत्र सत्ताएँ हैं और उनकी अलग-अलग दो दुनियाएं हैं। राइल के अनुसार, डेकार्ट इन स्वतंत्र सत्ताओं को मान कर इन्हें एक कोटि की वस्तु समझते हैं। ऐसा समझने से डेकार्ट कोटिभ्रम के दोषी हैं। राइल का सारा प्रयत्न इस दोष को दूर करता है, मानों राइल डेकार्ट के पाप का प्रायश्चित्त कर रहे हों।

३

राइल अपने तर्क में उदाहरणों से अत्यधिक काम लेते हैं। कोटिभ्रम की व्याख्या करने में भी वे विभिन्न प्रकार के उदाहरण उपस्थित करते हैं। जो तर्क इस तरह से उदाहरणों पर आधारित होता है उसे सादृश्य तर्क कहते हैं। सादृश्य के आधार पर यदि कोई गुण एक उदाहरण के लिए सत्य है तो अनुमान किया जाता है कि वह गुण दूसरे के लिए भी सत्य होगा। मान लें कि 'क' और 'ख' दो वस्तुएं हैं। 'क' वस्तु के विश्लेषण से पता चलता है कि 'क' के मूल लक्षण हैं प१, प२, प३,......... आदि। 'ख' में भी मूल गुण प१, प२, प३.........आदि पाये जाते हैं। ज्ञात है कि 'क' के इन मूल गुणों के कारण 'क' में 'घ' आरोपित है। अब इस आधार पर यह अनुमान करना तर्क संगत होगा कि 'ख' में भी 'घ' है। सादृश्यानुमान की इस कसौटी पर राइल का डेकार्ट का मन-सत्ता-सम्बन्धी तर्क संगत नहीं प्रतीत होता है।

राइल का कहना है कि डेकार्ट मन और शरीर की अवधारणाओं को एक ही कोटि में रखते हैं और इसलिए बेंच, कुर्सी की तरह उन्हें स्वतंत्र सत्ताएं समझते हैं। जिस प्रकार से वह विदेशी कालेज, पुस्तकालय तथा विश्वविद्यालय को एक कोटि में रखता है और कालेज, पुस्तकालय आदि को देखने के बाद भ्रमवश विश्वविद्यालय नाम की स्वतंत्र वस्तु की खोज करता है, उसी प्रकार डेकार्ट भी मन और शरीर अवधारणाओं को एक कोटि में रखकर शरीर-सत्ता को जान लेने के बाद मन-सत्ता की खोज करता है और भ्रमवश शरीर-रूपी यंत्र में मन-रूपी प्रेत की स्थापना करता है।

अब प्रश्न उठता है, क्या डेकार्ट ने इस प्रकार की भूल की है? क्या डेकार्ट के विभिन्न कथनों में इस प्रकार का कथन नहीं मिलता है जिसमें डेकार्ट ने कहा हो कि 'चितन,

संवेग और मन मानसिक व्यापार हैं, नाक, कान और शरीर शारीरिक अंग हैं।' यदि डेकार्ट ने मन और शरीर की अवधारणाओं का व्यवहार इस तरह से नहीं किया है तो स्पष्ट है कि डेकार्ट ने वह भूल नहीं की जो उपर्युक्त विदेशी "विश्वविद्यालय" अवधारणा के प्रयोग में करता है।

राइल का कथन है कि डेकार्ट मन और शरीर दोनों अवधारणाओं को एक ही कोटि की अवधारणा समझता है और इसलिए वह भ्रमवश मन-सत्ता का स्वतंत्र अस्तित्व मान लेता है। अब प्रश्न उठता है कि क्या मन और शरीर अवधारणाओं के बीच उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का कालेज, पुस्तकालय, जादूघर आदि तथा विश्वविद्यालय में? क्या मन विभिन्न शारीरिक अंगों की व्यवस्था है या शरीर विभिन्न मानसिक व्यापारों की? यह कहना निश्चितरूप से अनुचित है कि मैंने ऑक्सफोर्ड में जाकर विभिन्न कॉलेज, पुस्तकालय देखे। पर क्या यह कहना अनुचित है कि 'मन और शरीर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं?' मन और शरीर अवधारणाओं का व्यवहार इसी रूप में डेकार्ट के बहुत पहले से होता आया है और अब भी हो रहा है। क्या जिस प्रकार के वाक्यों में कॉलेज, पुस्तकालय आदि तथा विश्वविद्यालय का संयोजन भ्रमात्मक है उसी प्रकार किसी वाक्य में मन और शरीर अवधारणाओं का संयोजन भ्रमात्मक है? गिल्बर्ट राइल स्वयं भी मन और शरीर अवधारणाओं का प्रयोग उसी रूप में करते हैं जैसाकि डेकार्ट ने किया है। उदाहरण के लिए उनके इस वाक्य को लिया जाए: "शायद मूर्खों और शिशुओं के अतिरिक्त प्रत्येक मनुष्य के शरीर और मन दोनों होते हैं।"[7] मन और शरीर अवधारणाओं का व्यवहार इस वाक्य में जिस प्रकार से राइल ने किया है उसी प्रकार का प्रयोग डेकार्ट के पूर्ववर्ती तथा परवर्ती दार्शनिक करते रहे हैं और करते रहेंगे। इस प्रकार के प्रयोग के सम्बन्ध में कैसे कोई कह सकता है कि इसमें कोटिभ्रम है?

व्याकरण के अनुसार शरीर द्रव्य-वाचक संज्ञा है और मन भाव वाचक। किसी वाक्य में इन दोनों का संयोजन तभी नहीं हो सकता है यदि कोई यह प्रमाणित करे कि द्रव्यवाचक संज्ञा तथा भाववाचक संज्ञा का संयोजन या तो व्याकरण की दृष्टि से अशुद्ध है या तार्किक दृष्टि से विरोधात्मक है। क्या हम फूल और उसके सौन्दर्य इन दोनों अवधारणाओं का संयोजन एक ही वाक्य में नहीं कर सकते? शर्बत और उसकी मिठास, ये दोनों अवधारणाएं एक ही वाक्य में नहीं रह सकतीं?

गिल्बर्ट राइल तथा अन्य विश्लेषणात्मक दार्शनिक दर्शन की समस्याओं के विश्लेषण करने में साधारण भाषा का हवाला हमेशा दिया करते हैं। उन लोगों का कहना है कि दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति अवधारणाओं के असाधारण प्रयोग के कारण होती है। अवधारणाओं के अनेकानेक साधारण प्रयोगों के उदाहरणों के द्वारा ये स्पष्ट करना चाहते हैं कि अमुक अवधारणा का अमुक प्रयोग असाधारण अर्थात् भ्रमात्मक है। यह तर्क मन और शरीर की अवधारणाओं के प्रयोग के सम्बन्ध में लागू नहीं होता, क्योंकि इनका प्रयोग जिस प्रकार डेकार्ट ने किया साधारण भाषा में भी सर्वत्र उसी प्रकार का प्रयोग पाया जाता है।

---

6. Ibid p-458. 7. Ibid-p. 11.

डेकार्ट के सम्बन्ध में कहा जाता है कि डेकार्ट मन और शरीर की अवधारणाओं को पृ कोटि की अवधारणा समझ कर चेतन-सत्ता का स्वतंत्र अस्तित्व प्रमाणित करता है। राइ विभिन्न मानसिक अवधारणाओं के विश्लेषण के द्वारा यह दिखाना चाहते कि चेतन-सत्ता का स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। डेकार्ट की चेतन सत्ता के सम्ब में राइल कहते हैं, "मैं बहुधा इसके सम्बन्ध में जान बूझकर अपशब्द का व्यवह करूँगा और इसे मैं शरीर-यंत्र कहूँगा। मैं यह प्रमाणित करने की आशा करता हूँ कि प्रेत का होना बिल्कुल ही असत्य है।"[८] 'चेतन-सत्ता नहीं है', यह अस्तित्व सम्ब वाक्य है। इस निष्कर्ष को प्रमाणित करने के लिए, जैसाकि राइल चाहते हैं, तार्कि नियम के अनुसार आधार वाक्य में कम-से-कम एक अस्तित्व-सम्बन्धी वाक्य का होन आवश्यक है। शब्दों या अवधारणाओं के विश्लेषण या उनके विभिन्न प्रकार के प्रयोगों आधार पर किसी पदार्थ का अस्तित्व या अनस्तित्व कैसे प्रमाणित हो सकता है? एक ओ तो राइल का कहना है कि दार्शनिक तर्क के द्वारा कोई निष्कर्ष न तो प्रमाणित होता है औ न अप्रमाणित, वह तो अवधारणाओं के व्यवहार को स्पष्ट करता है जिससे उनके भ्रमात्म प्रयोगों की अवगति दार्शनिकों को हो जाती है। दूसरी ओर ऐसा प्रतीत होता है कि डेकार्ट चेतना के अस्तित्व सम्बन्धी विश्वास के कारण क्रुद्ध राइल चेतना-रूपी प्रेत के अस्तित्व सदा के लिए विलीन कर देना चाहते हैं। आश्चर्य होता है इतने छोटे दुश्मन को मार या भगाने के लिए इतना कठिन प्रयास, इतनी कड़ी तपस्या, शब्दों का इतना बड़ा भ्रम जाल इतने प्रकार के भ्रमों की सृष्टि की गयी! क्या इस भूत को भगाने के लिए ह्यूम की तलवार का तीखी नहीं थी जो मन की हर कोठरी में चेतन-सत्ता या आत्मा को ढूँढता रहा पर कहीं नहीं पा सका? क्या इस भूत को भगाने के लिए जड़वादियों के प्रहार यथेष्ट नहीं है राइल अपने तार्किक भाववादी भाइयों का स्मरण कर लेते जिन्होंने कठिन तपस्या करके य बतलाया कि आत्मा-सम्बन्धी वाक्य निरर्थक हैं। ऐसी स्थिति में राइल के प्रवचनों से कि प्रकार के ज्ञान की वृद्धि हुई, कौन-सा प्रश्न दर्शन से विलीन हुआ? यदि वह भूत ह्यूम जड़वादी तथा भाववादियों के प्रयास से नहीं भागा तो क्या राइल की झाड़फूँक से वह विलीन हो जाएगा?

राइल इस भूत की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कहते हैं: "जब गैलीलियो ने यह दिखाया कि उसकी वैज्ञानिक विधि द्वारा आविष्कृत यांत्रिक नियमों के द्वारा संसार के सभी पदार्थों की व्याख्या हो सकती है तो इसके कारण डेकार्ट के मन में दो भावनाओं के बीच संघर्ष का होना अवश्यंभावी था। वैज्ञानिक प्रतिभा सम्पन्न व्यक्ति होने के नाते उसे गैलीलियो की यांत्रिकता को स्वीकार करना ही था, किन्तु एक धार्मिक और नैतिक व्यक्ति होने के नाते वह इसे कदापि स्वीकार नहीं करता कि मन और भौतिक यंत्र में केवल मात्रा-भेद है, उसके लिए यह स्वीकार करना असंभव था कि मानसिक यांत्रिक का ही एक प्रकार है।"[९] राइल के इस कथन से

8. Ibid-pp. 15-16.
9. Ibid-pp. 18-19.

ह स्पष्ट हो जाता है कि डेकार्ट की मन-सम्बन्धी समस्या किस स्थिति में उत्पन्न हुई। सामाजिक ज्ञान तथा विशेष सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में डेकार्ट की दार्शनिक समस्या की उत्पत्ति होती है। राइल की उक्ति से ही यह स्पष्ट हो जाता है कि डेकार्ट की मन-सत्ता-सम्बन्धी समस्या की उत्पत्ति मन की अवधारणा के भ्रमात्मक प्रयोग या कोटि-भ्रम के कारण नहीं होती। दार्शनिक समस्याओं की उत्पत्ति जीवन और जगत् के सम्बन्ध में समग्र रूप से चिंतन करने के कारण होती है, नकि अवधारणाओं के भ्रमात्मक प्रयोग से।

यही कारण है कि दार्शनिक चिंतन बहुत प्रकार के चिंतनों के मूल में रहा है। साहित्य, कला, राजनीति, इतिहास, समाज शास्त्र, धर्म शास्त्र, नीति शास्त्र, तथा कुछ अंश में विज्ञान भी, दार्शनिक प्रेरणा के आकांक्षी रहे हैं तथा दर्शन उन विभिन्न क्षेत्रों के पौधों का सिंचन करता रहा है। इसका प्रमाण प्लेटो, एरिस्टोटल, डेकार्ट, स्पिनोजा, मिल, कांट, हेगेल, मार्क्स आदि के ज्वलंत विचारों में मिलता है। ऐसा प्रतीत होता है कि दार्शनिक के सम्बन्ध में प्लेटो की यह उक्ति कि 'वह सभी काल और सत्ता का द्रष्टा है' बहुत हद तक सत्य है। दार्शनिक के इस महत्वपूर्ण कार्य के सम्बन्ध में अत्याधुनिक दार्शनिक वाइसमान कहते हैं "यह कहना कि तत्त्व-मीमांसा निरर्थक है, निरर्थक है। ऐसा कहना अतीत के दार्शनिकों के महत्वपूर्ण कार्य को अस्वीकार करना है........दार्शनिक कलाकार की तरह अपने समय के द्रष्टा होते हैं। उनमें अपने समय के वातावरण की नब्ज महसूस करने की क्षमता होती है........बाल की खाल निकालना कि पदार्थ क्या है, उसकी क्या परिभाषा होगी, वह किस अर्थ में व्यवहृत हुआ है—ऐसा कहना दर्शन के संदेश को खो देना है। दर्शन जीवन में उतारने की वस्तु है। जो केवल शब्दों के द्वारा व्यक्त होता है वह नष्ट हो जाता है: जो जीवन और कार्य में उतरता है वही रह पाता है।"[10]

क्या भाषा विश्लेषणात्मक दार्शनिक दर्शन के इस उज्ज्वल स्वरूप को प्रस्तुत करने में समर्थ हैं? क्या इन अनेकानेक दार्शनिकों की एक भी ऐसी उक्ति या कथन है जिसे मनुष्य अपने जीवन में उतार सके या उतारने के योग्य समझे? क्या ये दार्शनिक किसी प्रकार के अन्धकार को विच्छिन्न कर प्रकाश देने में समर्थ हुए हैं? इनका सामर्थ्य तो देखा जाता है साधारण भाषा के नाम पर दुर्बोध, असाधारण तथा अस्पष्ट भाषा जाल की सृष्टि में। इन के दर्शन का जन्म दो महायुद्धों के बीच के समय में हुआ और इसकी प्रगति द्वितीय महायुद्ध के बाद दिनानुदिन हो रही है। वर्त्तमान युग निराशावादी युग है। जगत और जीवन के वैयक्तिक, सामाजिक, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर निराशा के बादल घिरे दिखते हैं। इसी निराशा की अभिव्यक्ति भाषा विश्लेषणात्मक दर्शन में पाई जाती है। इसका सम्बन्ध न तो जगत से है और न जीवन से, न समाज से है और न राष्ट्र से, न नीति से है न धर्म से, न विज्ञान से है न कला से। इन विभिन्न वस्तुओं का अध्ययन विभिन्न शास्त्र करते हैं। यह दर्शन इसे भी नहीं मानता कि दर्शन का काम बदलती और बढ़ती ज्ञान और अनुभव की

---

10. Contemporary British Philosophy. pp. 489-90.

पृष्ठभूमि में जीवन और जगत् के सम्बन्ध में एक समग्र दृष्टिकोण उपस्थित करना है जो मनुष्य के आदर्श तथा व्यवहार के मूल में रहता है। विषयाभाव के कारण इस दर्शन का कार्य अवधारणाओं और शब्दों के मोहर के द्वारा शतरंज का खेल खेलना है और कल्पित नियम के बल पर अवधारणाओं के साधारण प्रयोग को कोटिभ्रम कहना है। इस कोटिभ्रम रूप यंत्र के द्वारा ये विश्लेषणात्मक दार्शनिक बहुत प्रकार के अदृश्य तथा अव्यक्त प्रेत-पिशाचों को भगाने में संलग्न हैं। अब आज के दार्शनिकों को यह निर्णय करना है कि इन भाषा विश्लेषणात्मक दार्शनिकों के भ्रमजाल में हम पड़े रहेंगे या दार्शनिक विवेचन के द्वारा जीवन और जगत की मूल समस्याओं को समझने और इनके समाधान का प्रयास करेंगे? दर्शन की प्रतिष्ठा आज इसी निर्णय पर निर्भर है।

पटना विश्वविद्यालय,
पटना।

सार्त्र की नास्तिकता–एक मूल्यांकन

बसन्तकुमार लाल

इस लेख के दो खण्ड हैं। प्रथम खण्ड में यह जानने की चेष्टा की गयी है कि सार्त्र नास्तिक क्यों है अथवा उसकी नास्तिकता का आधार क्या है। दूसरे खण्ड में यह दिखलाया गया है कि सार्त्र की नास्तिकता और उसके अस्तित्ववादी–दृष्टिकोण में एक सूक्ष्म विरोध है।

१

नास्तिकता के कई रूप हो सकते हैं। दर्शन में नास्तिक विचार की स्थापना विभिन्न ढंगों पर होती है।

(क) निरीश्वरवाद की नास्तिकता सरल और स्पष्ट है। यह ईश्वर के अस्तित्व को ही अस्वीकार करता है और उसके पक्ष में दिये गये तर्कों का खण्डन करता है। सार्त्र इस अर्थ में निरीश्वरवादी नहीं है। वह ईश्वर की सत्ता के खण्डन का स्पष्ट प्रयत्न नहीं करता।

(ख) कभी कभी ईश्वर के अस्तित्व पर सन्देह किया जाता है, यह संशयवादी नास्तिकता है। इसका आधार अनुभव भी हो सकता है और भौतिकवादी विचार भी। सार्त्र की नास्तिकता संशयवादी नहीं है उनकी स्थापनाओं के पीछे संशय की दृष्टि नहीं, उनके ईश्वर–सम्बन्धी विचार "है" या "नहीं है" के विकल्प में नहीं पड़ते, उनकी उक्तियां निरपेक्ष और स्पष्ट हैं।

(ग) अज्ञेयवाद भी नास्तिकता का एक रूप है। यह ईश्वर के अस्तित्व को स्पष्टतः अस्वीकार नहीं करता, किन्तु कहता है कि ईश्वर और उसके अस्तित्व का ज्ञान असम्भव है। सार्त्र ऐसा नहीं कहता।

(घ) भौतिकवाद और इहलोकवाद आदि भी नास्तिक विचार हैं। इनके निष्कर्ष अनुभवजन्य तथ्यों पर आधारित अवश्य हैं, फिर भी ये भाव–जगत् में उतर ही आते हैं और विचार को प्रत्यक्ष–रूप बना देते हैं। अस्तित्ववादी सार्त्र इनसे भी कोई सम्पर्क नहीं रखता।

(ङ) इन दिनों नास्तिकता का एक प्रचलित रूप है जिसे व्यावहारिक नास्तिकता कहा जा सकता है। आधुनिक युग का मनुष्य इसी अर्थ में नास्तिक है। इस वैज्ञानिक युग का जीवन कुछ इतना भौतिकवादी हो गया है कि मनुष्य यदि धार्मिक कर्म व रीति रिवाजों को करता भी है तो वह भी एक मशीन की ही तरह। वह गिरजा घरों या मन्दिरों में जाता है, प्रार्थना में भाग लेता है, पूजा–इबादत करता है, किन्तु उसके दैनिक और व्यावहारिक जीवन में ईश्वर के लिये कोई स्थान नहीं। इस प्रकार की मनोवृत्ति का प्रवेश जब दर्शन और विचार के क्षेत्र में हो जाता है तो विचार ईश्वर के प्रति उदासीन हो जाता है और उसे ईश्वर

की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। सार्त्र का दर्शन उसी अर्थ में नास्तिक है। सार्त्र निरीश्वरवादी इस कारण है कि उसकी दृष्टि में ईश्वर एक अनावश्यक प्रत्यय है।

सार्त्र के अनुसार ईश्वर का भाव भी कुछ उसी ढंग से बनता है जिस ढंग से व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति का आभास होता है। सार्त्र के दर्शन में अन्य व्यक्तियों की 'दृष्टि' का विशद-वर्णन मिलता है। अपने अस्तित्व की चेतना में व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों की दृष्टि की चेतना होती है—यह चेतना होती है कि उसे भी 'देखा' जा रहा है—शायद उसी ढंग से जिस ढंग से किसी वस्तु या पदार्थ को देखा जाता है। यदि 'अन्य व्यक्ति' मेरे वातावरण के अंग हैं—यदि वे 'मेरे लिये' हैं, तो मैं भी उनके वातावरण का अंग हूँ—उनके लिये हूं। यह चेतना तो अनुभव की है। किन्तु, कभी कभी जब मनुष्य का मस्तिष्क भाव और प्रत्यय में उलझ जाता है तो वह इन वास्तविक और मानवीय सम्बन्धों से अलग हो—एक प्रकार से शून्य में ही—इन व्यक्तियों की उपस्थिति के पीछे जाने की चेष्टा करता है। वह विचार करता है कि शायद कोई ऐसा भी है जो किसी अन्य व्यक्ति की 'दृष्टि' का 'विषय' नहीं, जो व्यक्तियों के पीछे है और सभी व्यक्ति उसी के 'लिये' हैं। साधारणतः तो हर व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की दृष्टि का विषय है ही, केवल वही एक ऐसा व्यक्ति है जो स्वयं किसी की दृष्टि का विषय नहीं, किन्तु उसकी दृष्टि के विषय सभी हैं।[१]

सार्त्र के अनुसार यह ईश्वर के भाव तक पहुँचने का एक ढंग है। किन्तु इस उद्धरण से ही पता चलता है कि यह ईश्वर की वास्तविकता या उसके अस्तित्व को स्थापित नहीं करता। विचार जब शून्य-रूप होकर (एम्प्टिली) अग्रसर होता है तब इस भाव पर पहुँचता है, और फिर भी यह भाव अवास्तविक ही रह जाता है।

सार्त्र इस तथ्य पर एक दूसरे प्रकार से भी पहुँचते हैं। 'मुझे' (अस) और 'मैं विषय' (वी-साब्जेक्ट) के विश्लेषण में भी सार्त्र ईश्वर के भाव का उल्लेख करते हैं।[२] यदि किसी की दृष्टि में मैं एक 'विषय' हूँ, यदि मैं उसके वातावरण का अंग हूँ, तो उसके सम्बन्ध में मैं 'मैं' नहीं, 'मुझे' हूँ; मुझे (अस-आब्जेक्ट) कहा जा सकता है। यह बात हर व्यक्ति पर

१. "......... as soon as I look at those who are looking at me, the other consciousnesses are isolated in multiplicity. On the other hand if I turn away from the look as the occasion of concrete proof and seek to think emptily of the infinite distinction of human presence and to unify it under the concept of infinite subject which is never an object, then I obtain a purely formal notion which refers to an infinite series of mystic experiences of the presence of the other, the nation of God as the omnipresent infinite subject for whom I exist." J. P. Sartre : Being and Nothingness. Tr. by. Haxel E. Barnes, London Methuen and Co. Ltd. १९५७—पृ० २८१.

२. वहीं पृ० ५२३।

लागू होती है। अपनी दृष्टि में मैं 'मैं' हूं, अन्य की दृष्टि में 'मुझे'। कुछ इसी ढंग से 'वी—साब्जेक्ट' अर्थात् द्रष्टा मैं और 'अस आब्जेक्ट' अर्थात् विषयभूत मुझे का अन्तर किया जाता है। अब यदि 'द्रष्टा मैं' और 'विषय मैं' के 'सम्बन्ध' पर विचार किया जाय तो प्रतीत होगा कि इस सम्बन्ध को एक 'तीसरे' की अपेक्षा है। यह तीसरा अवश्य ही 'मैं' और 'मुझे' के मानवीय भेद से अलग होगा और मनुष्य उसके लिये एक विषय होगा। इस प्रकार यह तीसरा 'मैं' और 'मुझे' के अन्तर का आधार है। सार्त्र कहते हैं "यह अवधारणा वैसी ही है जैसी उस अस्तित्व की जो द्रष्टा है किन्तु जो कभी विषय नहीं बनता है, अर्थात् यह ईश्वर के प्रत्यय से अभिन्न है।"[३]

सार्त्र की इस व्याख्या को एक उपमा के द्वारा समझा जा सकता है और उसी उपमा से यह भी स्पष्ट हो जायगा कि सार्त्र के अनुसार ईश्वर का यह भाव अवास्तविक है। मान लें कि मैं किसी सभा में भाषण दे रहा हूँ। मुझे यह भी चेतना है कि लोग मुझे देख रहे हैं, किन्तु मेरी चेतना मूलतः विचारों को प्रकट करने पर ही लगी है। अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति का हमें एक सामान्य ज्ञान है। उपस्थित व्यक्तियों का अलग अलग ज्ञान नहीं, 'श्रोता' का ज्ञान है जो एक सामान्य अर्थ में उपस्थित व्यक्तियों का ऐक्य है। किन्तु, सच पूछा जाय तो श्रोता अवास्तविक है, कोई सामान्य-श्रोता-रूप नहीं। यदि किसी क्षण मैं अपने विचारों के प्रवाह को रोक श्रोता को देखने की चेष्टा करूँ तो तत्क्षण 'श्रोता' के स्थान पर व्यक्तियों के सिर और चेहरे दिखाई देंगे। उसी प्रकार अपने और अन्य व्यक्तियों के अन्तर पर ध्यान देने से ऐसा प्रतीत हो सकता है कि उनके पीछे कोई एकता है, किन्तु यह प्रतीति अवास्तविक है क्योंकि उस प्रतीति को जानने की चेष्टा में मुझे केवल अन्य व्यक्तियों का ही ज्ञान मिलेगा; उसका—उस ईश्वर का—नहीं।

कुछ स्थलों पर सार्त्र ईश्वर के भाव और अस्तित्व के विरुद्ध कुछ तर्क भी दे देते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर को 'स्वयं' माना जाता है, इसका यह अर्थ है कि ईश्वर स्वयं ही अपना कारण है। यदि ऐसी बात है तो ईश्वर अपने से ही अलग है क्योंकि कारण कार्य से अलग होता है। इसी तर्क को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया गया है। सार्त्र कहते हैं कि यदि ईश्वर अपने अस्तित्व के लिये किसी अन्य पर निर्भर नहीं करता तो उसमें अस्तित्व हो ही नहीं सकता, क्योंकि केवल उन्हीं में सत्ता होती है जो अपनी सत्ता के लिये अन्य उपादानों पर निर्भर करते हैं।[४]

---

३. वहीं।

४. Hazel E. Barnes ने 'Being and Nothingness' की भूमिका में इस तर्क का बड़ा स्पष्ट वर्णन दिया है। वे कहते हैं, "If God causes himself, then he must stand at a distance from himself. This makes God's self into something contingent, ie. dependent. But the contingent can not be God. Therefore there is no God, or starting from the other end, if God is not contingent."—'Being and Nothingness'—Editors Introduction. P. XXX.

'बींग एंड नथिंगनेस' में ही एक दूसरा तर्क दिया गया है। सार्त्र पूछते हैं कि यदि ईश्वर है तो ईश्वर और जगत् की सम्पूर्णता में क्या सम्बन्ध है? ईश्वर को विश्व दो रूपों में दिखाई दे सकता है: विषय के रूप में या विषयी (द्रष्टा) के रूप में। यदि विश्व की सम्पूर्णता ईश्वर के लिये 'विषय' है तो दोनों के द्वैत को मानना पड़ता है और यदि यह ईश्वर के लिये एक विषयी है तो ईश्वर को इस सम्पूर्णता की उपस्थिति का आभास-मात्र ही हो सकता है, उसका ज्ञान नहीं मिल सकता; क्योंकि एक ज्ञाता को दूसरे ज्ञाता की उपस्थिति का केवल आभास ही मिल सकता है। दोनों अर्थों में 'ईश्वर' सीमित हो जाता है और इस प्रकार यह भाव 'ईश्वर' का भाव नहीं रह जाता।[५]

रोबर्ट्स ने इस तर्क को दूसरे ढंग से समझाया है।[६] सार्त्र का कहना है कि चेतना को अपने 'वस्तु' या 'विषय' की अपेक्षा रहती है। यदि चेतना है तो वह सदा किसी वस्तु या विषय की है। केवल चेतन के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। अब, यदि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार कर लिया जाय तो इसका अर्थ हो जाता है कि सृष्टि के पहले ही एक शुद्ध चेतना थी - और यह असम्भव है। ईश्वर की चेतना के पहले से एक ईश्वर को मान लेना तर्कसंगत नहीं। पहले चेतना का प्रादुर्भाव होता है, उसके विकास में सम्भवतः किसी व्यक्ति को ईश्वर की चेतना हो जा सकती है। किन्तु, इस आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि ईश्वर पहले से है?

सच पूछा जाय तो यह सब सार्त्र के नास्तिक विचार की अभिव्यक्ति है। उसकी नास्तिकता के मूल आधार तीन हैं:

(१) सार्त्र के अनुसार दर्शन साधारणतः बेकार की बातों में उलझा रहता है और यह भी भुला देता है कि मूलतः वह मनुष्य का मनुष्य-सम्बन्धी विचार है। फिर सार्त्र यह भी देखता है कि दर्शन का आरम्भ जन्म के साथ नहीं, इससे पहले मनुष्य को 'अहं' और 'अपने अस्तित्व' की चेतना हो जाती है। मनुष्य के सभी विचार और दर्शन इस चेतना के फलस्वरूप इसके बाद ही उत्पन्न होते हैं। ईश्वर का भाव भी यदि बनता है तो इस चेतना के बाद ही। सार्त्र मानव-अस्तित्व की इस मौलिकता से इतना प्रभावित है कि वह इस विचार पर आ जाता है कि मनुष्य के अस्तित्व, जीवन और उसकी सारी योजनाओं की व्याख्या मानवीय ढंग पर हो सकती है। उस व्याख्या के लिये ईश्वर की आवश्यकता नहीं।

(२) सार्त्र समझते हैं कि मनुष्य के अस्तित्त्व में विश्वास का आधार जीवन की निस्सारता और निष्फलता है। मनुष्य का जीवन अनिश्चित है, उसे पग-पग पर निराशा मिलती है और संघर्ष करना पड़ता है। फलस्वरूप उसे सब कुछ तथ्यहीन और बेकार मालूम होता है। उसे एक सहारे की आवश्यकता प्रतीत होती है और वह एक ईश्वर में विश्वास जगा लेता है। तो इस विश्वास से अधिक मौलिक हैं चिन्ता, क्लेश और जीवन की सारहीनता

---

५ Ibid-pp. 301-301.

६. Daird E. Roberts: Existentialism and Religious Belief. Ed. by Roger Hazelton, New York, Oxford University Press 1957, pp. 214-215.

की चेतना। यदि अपने वैयक्तिक अस्तित्व में—अपने आन्तरिक जीवन में—व्यक्ति को सबकुछ तथ्यहीन प्रतीत होत है तो ईश्वर का विश्वास भी तथ्यहीन है।

(३) सार्त्र की नास्तिकता का सब से प्रमुख आधार है सार्त्र का मानवीय स्वतंत्रता में विश्वास। 'ईश्वर' और 'मानवीय स्वतंत्रता' में मौलिक विरोध है। यदि विश्व की सृष्टि ईश्वर के द्वारा हुई है तो इसका अर्थ है कि सृष्टिकर्त्ता ने मनुष्य को भी एक पूर्वनिर्मित भाव के अनुरूप बनाया है—ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार एक शिल्पी अपनी कला–कृति का सृजन करता है। किन्तु, उस दशा में मानव की स्वतंत्रता का अपहरण हो जाता है और सार्त्र को यह कभी स्वीकार नहीं क्योंकि मानवीय स्वतंत्रता सार्त्र के अस्तित्ववाद की मूल मान्यता है। तो, सार्त्र नास्तिक इस कारण हो जाते हैं कि ईश्वर को मान लेने से मनुष्य की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सार्त्र ने अपनी नास्तिकता को स्थापित करने का कोई विशेष प्रयत्न नहीं किया है, इसकी उन्हें कोई आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। नास्तिकता उनकी एक मान्यता है। मनुष्य और मनुष्य के अस्तित्व की व्याख्या मानवीय ढंग में ही करने का उनका निश्चय है और इस कारण ईश्वर 'है' या 'नहीं है'—यह उनके लिये कोई महत् प्रश्न नहीं रह जाता। वे स्वयं कहते हैं "अस्तित्ववाद इस अर्थ में नास्तिक नहीं है, इसकी ईश्वर निषेध करने में ही इतिश्री हो जाती है। इसके विपरीत, इसका दावा है कि यदि ईश्वर का अस्तित्व होगा तो भी अस्तित्ववादी दृष्टिकोण से स्थिति में कुछ अन्तर नहीं पड़ेगा। इसका अर्थ यह नहीं कि हम ईश्वर की सत्ता में विश्वास करते हैं प्रत्युत यह कि वास्तव समस्या में उसके अस्तित्व की बात से कोई अन्तर नहीं पड़ता। मानव की आवश्यकता आत्मोपलब्धि है और यह अवगति है कि उसके निजत्व से उसे कोई नहीं बचा सकता, स्वयं ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण भी नहीं।[७]

किन्तु सार्त्र का यह नास्तिक दृष्टिकोण एक ओर तो सार्त्र के विचारों को एक विशेष गति देता है और दूसरी ओर सार्त्र की अस्तित्ववादी विचार–धारा का खण्डन भी करता है। इस नास्तिकता में कुछ ऐसी कठिनाइयां हैं जिनमें सार्त्र का अस्तित्ववाद भी उलझ जाता है। नास्तिकता के समर्थन में सार्त्र अपने अस्तित्ववाद को भी भूल जाता है।

सार्त्र के अनुसार ईश्वर का भाव कैसे बनता है, इसका वर्णन पहले दिया गया है। यदि उसी विश्लेषण में अस्तित्ववाद खण्डित हो रहा है, यदि मैं अन्य व्यक्तियों की उपस्थिति की प्रतीति से ऊपर उठ कर किसी अन्य की चेतना जगा लेता हूँ, यदि 'वी–सब्जेक्ट' और 'अस–आब्जेक्ट' के अन्तर में मुझे किसी 'तीसरे' के अस्तित्व का आभास हो जाता है तो यह मेरा वैयक्तिक निश्चय है। ये अनुभूतियां मेरी आन्तरिक अनुभूतियां हैं—इन्हें बिल्कुल अस्वीकार करना, इन्हें अवास्तविक कहना अस्तित्ववाद का खण्डन करना है।

---

७. J. P. Sartre: Existentialism and Humanism. Tr. & Int. by Philip Mairet, London. Methuen and Co. 1957 edition.

सार्त्र की उपमा से ही यह स्पष्ट है। यह ठीक है कि वक्ता को साधारणतः किसी 'सामान्य-श्रोता' का ज्ञान नहीं रहता, उसके सामने चेहरे रहते हैं। किन्तु, यह सम्भव है कि कभी किसी वक्ता के साथ ऐसा न भी हो, उसके लिये व्यक्तियों का ही अस्तित्व न रहे, और वह किसी 'सामान्य-श्रोता' को ही लक्ष्य करके सब कुछ करता जाय। ऐसे वक्ताओं से यदि बाद में पूछा जाय तो पता चलेगा कि वे सामने बैठे परिचित लोगों को भी पहचान न पाये थे। तो, यह सम्भव है कि किसी व्यक्ति को 'मैं' और 'अन्य' के अन्तर में ईश्वर की चेतना न हो, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि किसी व्यक्ति को यह चेतना हो ही नहीं सकती। मैं यह कहना चाहता हूँ कि यदि मनुष्य की अन्तरिकता को किसी भी बन्धन में बांध दिया जाय तो यह अस्तित्ववादी दृष्टिकोण के विरुद्ध है। यदि यह कहना गलत है कि मनुष्य को एक विशेष ढंग से ईश्वर के अस्तित्व की चेतना होगी ही, तो यह कहना भी गलत है कि ईश्वर विचार पूर्णरूप से अवास्तविक है। यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति अपने अन्तर में ईश्वर में विश्वास पैदा कर ले—आस्तिकता का निश्चय कर ले। यह सार्त्र के विचार के विरुद्ध हो सकता है, अस्तित्ववाद के विरुद्ध नहीं।

कुछ ऐसे तर्कों का ज़िक्र किया गया है जिन्हें सार्त्र ईश्वर के अस्तित्व के विरुद्ध देता है। किन्तु, उन तर्कों से केवल यही प्रमाणित होता है कि तार्किक भाव-विचार से ईश्वर की वास्तविक सत्ता स्थापित नहीं हो सकती। उन तर्कों से यह प्रमाणित नहीं होता कि व्यक्ति की आन्तरिकता में भी ईश्वर में विश्वास उत्पन्न नहीं हो सकता। एक तर्क में कहा गया है कि यदि ईश्वर स्वयं है तो उसका अस्तित्व वास्तविक नहीं क्योंकि जिसमें अस्तित्व रहता है वह स्वयं नहीं होता। दूसरे तर्क में कहा गया है कि ईश्वर इस लिये नहीं है क्योंकि शुद्ध चेतना का अकेला अस्तित्व नहीं। इन तर्कों से तो केवल यही सिद्ध होता है कि ईश्वर को एक बाह्य सत्ता के रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु यदि किसी व्यक्ति की आन्तारिकता इस निश्चय पर आ जाती है और यदि उसका जीवन इसी निश्चय और विश्वास पर चल पड़ता है, तो इन तर्कों से कोई अन्तर नहीं पड़ता। ईश्वर का कोई बाह्य अस्तित्व न हो, लेकिन किसी व्यक्ति के आन्तरिक जीवन में तो ईश्वर रह ही सकता है।

सार्त्र की नास्तिकता का आधार चिन्ता, क्लेश, भय आदि की अनुभूति है। कहा गया है कि जीवन के कुछ अनुभवों के चलते मनुष्य को सब कुछ तथ्यहीन प्रतीत होता है और इसलिये ईश्वर का भाव भी तथ्यहीन है। सार्त्र इस स्थल पर यह भूल जाते हैं कि अस्तित्ववाद इस तथ्यहीनता की परिभाषा नहीं देता, उसके लक्षणों का वर्णन नहीं करता बल्कि अस्तित्ववाद के अनुसार तो यह तथ्यहीनता भी अज्ञात है। यदि तथ्यहीनता का वर्णन हो गया तो इसका अर्थ हुआ कि उसमें भी तथ्य निकल आया है। यदि जीवन की निस्सारता और अर्थहीनता की अनुभूति का यह अर्थ निकाला जाय कि ईश्वर नहीं है, तो यह तो तथ्य-हीनता के अर्थ को समझने की एक चेष्टा है, और यह चेष्टा आत्म विरोधी तो है ही—अस्तित्ववादी दृष्टिकोण का विरोधी भी है।

सार्त्र की नास्तिकता का सब से प्रमुख आधार मानवीय स्वतंत्रता बतलाया गया

है। यदि मनुष्य स्वतंत्र है तो उसका रूप दैवी नहीं हो सकता। मनुष्य की स्वतंत्रता किसी ईश्वर के द्वारा निर्मित और निर्धारित स्वतंत्रता नहीं हो सकती। तो, सार्त्र का तर्क है—मनुष्य स्वतंत्र है इसलिये ईश्वर नहीं है। इस तर्क में दो कठिनाइयां हैं। एक तो यह कि यदि ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार कर लेने से मानवीय स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है तो ईश्वर के अस्तित्व को अस्वीकार करने से भी मानवीय स्वतंत्रता का अपहरण हो जाता है। अस्तित्ववाद मानता है कि स्वतंत्रता का कोई सामान्य अर्थ नहीं है, स्वतंत्रता सदा व्यक्ति की होती है। यह नहीं कहा जा सकता कि व्यक्ति की स्वतंत्रता का प्रवाह किस दिशा में होगा। यदि कहा जाय कि मानवीय विचार निरीश्वरवादी होगा ही तो यह भी स्वतंत्रता के ऊपर एक बन्धन है। व्यक्ति को स्वतंत्रता है और इस कारण उसके लिये यह सम्भव है कि वह इस निश्चय पर आ जाय कि विश्व के पीछे कोई सत्ता है। यह अवश्य है कि यह उसका व्यक्तिगत निश्चय और विश्वास होगा। सार्त्र स्वयं कहते हैं कि व्यक्ति के आत्म-निर्माण की पूर्ण स्वतंत्रता है, उसे कोई आधार और कोई सहायक दिखायी नहीं देता, इस कारण वह जो कुछ भी बनता है अपनी योजनाओं और अपने वैयक्तिक निर्णयों के अनुरूप ही बनता है। तो, सार्त्र के कथन के अनुसार ही, व्यक्ति के लिये सम्भव है कि वह आस्तिक बन जाय। दूसरी बात यह है, कि 'व्यक्ति स्वतंत्र है'—इस वाक्य से यह सिद्ध नहीं होता कि ईश्वर नहीं है।' विशेषतः सार्त्र के दर्शन में तो यह सिद्ध नहीं ही होता, क्योंकि व्यक्ति की उत्पत्ति आदि के विषय में सार्त्र कुछ नहीं कहते। और फिर, सार्त्र के अनुसार ही, व्यक्ति की स्वतंत्रता कुछ अंशों में सीमित है। तो अधिक से अधिक ईश्वर के अस्तित्व पर सन्देह किया जा सकता है, मनुष्य की स्वतंत्रता से सार्त्र की निरपेक्ष नास्तिकता का अनुमान नहीं किया जा सकता।

सार्त्र के विचार में यह कमजोरी केवल इस कारण है कि वे अपनी 'व्यवहारिक नास्तिकता' की व्यवहारिकता को बिल्कुल भूल जाता है। अस्तित्ववाद के लिये यह आवश्यक है कि वह ईश्वर के विषय में बात ही न करे। सार्त्र ठीक ही कहते हैं कि मनुष्य ईश्वर आदि पर सोचना आरम्भ करता है जब वह वयस्क बन जाता है और जब उसे समझ-बूझ की शक्ति आ जाती है। इससे बहुत पहले उसे अपने अस्तित्व की चेतना होती है और 'अहं' की अनुभूति होती है। यह सब कुछ वास्तविक है। फिर भी यह सिद्ध नहीं हो पाता कि ईश्वर नहीं है। सार्त्र इस तथ्य का समर्थन करते हैं कि मनुष्य की प्रथम चेतना अपने अस्तित्व की चेतना है। इस वाक्य से यह दूसरा वाक्य स्थापित नहीं होता कि 'ईश्वर नहीं है'। अस्तित्ववादी के लिये उपयुक्त यही है कि इस स्थल पर वह 'मौन' रहे। 'दार्शनिक मौन' दर्शन की कमजोरी नहीं है। यह सम्भव नहीं कि संसार के सभी प्रश्नों का उत्तर एक ही विचार-प्रणाली दे दे। अस्तित्ववाद की मूल समस्या है 'मनुष्य', और वह व्यक्ति और मनुष्य के अस्तित्व की रूपरेखा मानवीय और मनोवैज्ञानिक ढंग से खींचने की चेष्टा करता है। अस्तित्ववाद का विषय है मनुष्य, वह भी अस्तित्व की अनुभूति से लेकर मृत्यु तक का मनुष्य। इन्हीं सीमाओं के अन्तर्गत मनुष्य के विकास, कर्म, योजना, भावना, निश्चय आदि का वर्णन अस्तित्ववाद मानवीय और मनोवैज्ञानिक ढंग पर करता है। अस्तित्व की अनुभूति

के पहले की अवस्था क्या है ? मृत्यु के बाद क्या होता है ?—ये प्रश्न अस्तित्ववाद के प्रश्न नहीं। जब-जब अस्तित्ववादी विचारकों ने इस सीमा का उल्लंघन किया है उनका अस्तित्ववादी विश्वास कमजोर हो गया है, और उनके विचार में दोष आ गया है। तो, सार्त्र से यदि कोई जन्म को व्याख्या मांगे, या सृष्टि के विकास के पीछे की शक्ति के सम्बन्ध में कोई प्रश्न करे तो सार्त्र के लिये व्यवहारिक और उपयुक्त यही है कि वह चुप रहे, क्योंकि ये प्रश्न उसके हैं ही नहीं। डारविन के जीव-विकास सिद्धान्त में भी प्रथम जीव को मान लिया गया है, एक जीव को मान कर डारवीन सभी जीवों के विकास की व्याख्या कर देता है। यदि कोई उससे पूछता कि प्रथम जीव कहां से और कैसे आया तो उसका उत्तर होता कि शायद ईश्वर ने प्रथम जीव को प्राण दे दिया था। ईश्वर के नाम लेने से डारवीन के विकास सिद्धान्त में कोई कमजोरी नहीं आती क्योंकि उसका उद्देश्य प्रथम जीव की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सोचना नहीं था, यह बतलाना था कि प्रथम जीव से अन्य जीवों का विकास कैसे हुआ। तो विचार की भी सीमा होती है, हर विचार हर प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकता; सार्त्र अपनी सीमा को भूल गये।

कभी कभी तो ऐसा प्रतीत होता है कि सार्त्र ने यह तय कर लिया है कि अपने विचारों की मौलिकता से वे लोगों को स्तम्भित कर दें, और नीत्शे के समान वह भी कह उठता है कि ईश्वर नहीं है। उसकी नास्तिकता का कोई ठोस आधार ही नहीं है, उसने यह पहले से तय कर लिया है कि उसके विचार को नास्तिक ही रहना है और इस नास्तिकता की रक्षा में वह ऐसे प्रश्नों और भावों में उलझ जाता है जो उसके अस्तित्ववाद को ही दूषित कर देते हैं।

पटना विश्वविद्यालय,
पटना

नैतिक विश्लेषण के माडल

रमाशंकर मिश्र

प्रतुस्त निबन्ध में मैं किसी विशेष निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ, ऐसा दावा मैं नहीं करता। इस निबन्ध में मेरा प्रयोजन यह देखना है कि तर्क की कसौटी पर नैतिक निर्णयों के विश्लेषण हेतु स्टीवेनसन द्वारा प्रस्तुत माडल किस सीमा तक स्वीकार्य हो सकते हैं। यहां पर यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि वे नैतिक निर्णयों को आकांक्षा-प्रधान मानते हैं।

"एथिक्स एण्ड लैंग्वेज" के अध्याय दो में स्टीवेनसन नैतिक निर्णयों का अनुवाद विशेष प्रकार के माडल के अनुरूप करते हैं। जैसेः-

"यह अच्छा है" माडल वाक्य को "मैं इसे स्वीकार करता हूँ, ऐसा ही करो" वाक्य में बदला जा सकता है।

अनूदित वाक्य "मैं इसे स्वीकार करता हूँ, ऐसा ही करो" दो धारणाओं को स्पष्ट करता है। प्रथम यह कि जब हम "अच्छा" शब्द का प्रयोग करते हैं तो हमारा तात्पर्य स्वीकृति व्यक्त करना होता है। तथा द्वितीय, जब हम किसी वस्तु को स्वीकार करते हैं तो हम चाहते हैं कि दूसरे व्यक्ति भी ऐसा ही करें, अपनी इस आकांक्षा को हम आदेशात्मक रूप में प्रस्तुत करते हैं। सम्भवतः आकांक्षा को आदेश रूप में प्रस्तुत करने का प्रयोजन सन्तोष प्राप्त करना होता है। यहां यह ध्यान देने योग्य है कि 'स्वीकार करना' तथा 'पसन्द करना' दोनों का एक ही अर्थ नहीं है। यदि 'स्वीकार करने' का अर्थ पसन्द करना है तो इस वाक्य में आदेशात्मक वाक्य 'ऐसा ही करो' निर्मूल हो जाता है। परिणाम स्वरूप 'मैं इसे स्वीकार करता हूँ' वाक्य, तथा 'ऐसा ही करो' वाक्य में कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं रह जायगा। किन्तु नैतिक दृष्टिकोण से दोनों वाक्यों में अपरिहार्य सम्बन्ध होना ही चाहिए; क्योंकि स्टीवेनसन के अनुसार, नैतिक-निर्णय आदेशात्मक होते हैं।

अतः 'मैं इसे स्वीकार करता हूँ' और 'ऐसा ही करो' में संयुक्ति सम्बन्ध है। किन्हीं दो या अधिक प्रकथनों के संयुक्ति सम्बन्ध को स्थापित करने के लिए प्रत्येक प्रकथन के लिए अलग-अलग प्रमाण जुटाना अनिवार्य होता है। 'मैं इसे स्वीकार करता हूँ' वाक्य कथन करने वाले व्यक्ति की मनोवैज्ञानिक-प्रतिक्रिया को व्यक्त करता है तथा इसका सत्यापन अनुभव के आधार पर किया जा सकता है। किन्तु आदेशात्मक वाक्य 'ऐसा ही करो' का प्रमाण नहीं जुटाया जा सकता है क्योंकि आदेश को प्रमाणित नहीं किया जा सकता, यद्यपि हेयर मानते हैं कि ऐसा किया जा सकता है। स्टीवेनसन के कथनानुसार, यद्यपि हम आदेश को प्रमाणित नहीं कर सकते तथापि आदेश का पालन क्यों किया जाय—इसका कारण स्पष्ट किया जा सकता है। आदेशपालन के कारण के आधार पर आदेश के प्रयोजन को जाना जा सकता है, तथा प्रयोजन को अनुभव के आधार पर परखा जा सकता है।

यह स्टीवेनसन के माडल सम्बन्धी सिद्धान्त का संक्षिप्त वर्णन है किन्तु यदि इस व्याख्या को स्वीकार कर लिया जाए तो कतिपय गम्भीर समस्याएं उठती हैं। किसी वस्तु को अच्छा मानना, तथा उसे स्वीकार करना, इन दोनों में क्या सम्बन्ध हो सकता है? जब कोई व्यक्ति कहता है कि "क अच्छा आदमी है" क्या उसका तात्पर्य होता है कि क अच्छा आदमी है क्योंकि वह उसे स्वीकार करता है, अथवा, वह उसे स्वीकार करता है क्योंकि क अच्छा आदमी है? स्टीवेनसन इस समस्या का विवेचन नहीं करते। या तो वे इस समस्या की महत्ता को ठीक-ठीक नहीं आंक सके, अथवा वे इस समस्या को अपनी व्याख्या में अनावश्यक समझते हैं। सम्भवतः इस प्रकार की समस्या उनके लिए अनावश्यक है, क्योंकि वे, "मैं क को स्वीकार करता हूँ, ऐसा ही तुम भी करो" वाक्य को 'क अच्छा आदमी है' वाक्य का अर्थ मानेंगे।[१] किन्तु यदि इसे स्वीकार कर लिया जाए तो एक अन्य महत्व-पूर्ण प्रश्न उठता है कि क्या माडल वाक्य एवं अनूदित वाक्य दोनों का अर्थ हमेशा एक-समान ही रहता है? वस्तुतः अनूदित वाक्य केवल विशेष परिस्थिति में ही सार्थक होगा। जब किन्हीं दो या अधिक व्यक्तियों को कोई समस्या सुलझानी हो उस अवस्था में तो अनूदित वाक्य सार्थक हो सकता है, किन्तु इस स्थिति विशेष को हमेशा के लिए मान्य नहीं माना जा सकता है। किसी भी भिन्न स्थिति को असम्भावी नहीं माना जा सकता है। उदाहरण के लिए, मेरा मित्र मुझसे बात करते समय क के सम्बन्ध में (जहां मैं क को नहीं जानता हूँ) कहता है कि 'क अच्छा आदमी है'। क्या इस वाक्य से मेरे मित्र का तात्पर्य है कि वह क को स्वीकार करता है? यदि उसका यह तात्पर्य है तो मुझे कोई आपत्ति नहीं है। क्योंकि मेरा मित्र क के प्रति अपनी मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति व्यक्त कर रहा है। ऐसा करने के लिए कोई व्यक्ति स्वतन्त्र है। किन्तु इस आधार पर मेरा मित्र मेरी क के प्रति प्रवृत्ति को निर्दिष्ट करने का प्रयत्न नहीं कर सकता है क्योंकि, स्पष्टतः क के प्रति मेरी कोई प्रवृत्ति है ही नहीं क्योंकि मैं उसे जानता ही नहीं हूँ। सम्भवतः इस प्रकार के अनूदित वाक्य सामयिक रूप में अर्थ-संगत होते हैं, किन्तु इन्हें सामान्य रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता। परिणाम स्वरूप 'मैं क को स्वीकार करता हूँ, ऐसा ही तुम करो' वाक्य को 'क अच्छा आदमी है' वाक्य का समानार्थक नहीं माना जा सकता है। दूसरे 'मैं क को स्वीकार करता हूँ' प्रकथन तथा 'ऐसा ही करो' प्रकथन में अपरिहार्य सम्बन्ध नहीं स्थापित किया जा सकता है किन्तु मनोवैज्ञानिक प्रतिक्रियात्मक वाक्य तथा आदेशात्मक वाक्य में अपरिहार्य सम्बन्ध स्थापित करने की अक्षमता से नीतिशास्त्र का आवेग सिद्धान्त खोखला पड़ जाता है।

यदि 'क अच्छा आदमी है' वाक्य का अर्थ अनिवार्य रूप से 'मैं क को स्वीकार करता हूँ, ऐसा ही तुम भी करो' नहीं होता है तो इससे यह भी स्पष्ट होगा कि 'अच्छा' शब्द की परिभाषा इसलिए नहीं दी जा सकती क्योंकि इसका कोई एक विशेष अर्थ नहीं है। 'अच्छा' शब्द की तुलना लाल और पीला आदि शब्दों से नहीं की जा सकती है, क्योंकि ये पद

१. स्टीवेनसनः एथिक्स एण्ड लैंग्वेज पृ० २१।

निश्चित–गुण–निर्देश करते हैं। "अच्छा" शब्द का अर्थ इसके प्रयोग पर निर्भर करता है।

यदि 'क अच्छा आदमी है' प्रकथन का तात्पर्य होता है "मैं क को स्वीकार करता हूँ, ऐसा ही तुम भी करो" तो इसके दो अर्थ हो सकते हैं। प्रथम तो यह कि क को इसलिए अच्छा कहा गया है क्योंकि उसमें कुछ गुण विशेष विद्यमान हैं जिनके आधार पर उसे अच्छा कहा गया है, तथा द्वितीय यह कि, क को अच्छा कहते समय हम क के प्रति अपनी प्रवृत्ति से सहमति प्रकट करते हैं।

यदि हम यह कहें कि, क इसलिए अच्छा है क्योंकि उसमें अच्छा होने के गुण विद्यमान हैं, तो यह भी स्वीकार करना होगा कि 'अच्छा' शब्द निश्चित गुण–बोधक है, किन्तु इस धारणा को हम अस्वीकार कर चुके हैं। परन्तु यदि तर्क के लिए इसे स्वीकार भी कर लिया जाए तो उस अवस्था में'मैं क को स्वीकार करता हूँ ऐसा ही तुम करो' वाक्य अर्थ–संगत नहीं रह जाता है। यदि क अपने गुणों के आधार पर स्पष्टतः अच्छा है तो किसी अन्य की स्वीकृति एवं प्रवृत्ति–निर्देशन की आवश्यकता ही नहीं रह जाती है। उदाहरण के लिए, यदि मैं कहूँ कि 'यह कर्त्तव्य है, इसका पालन अवश्य होना चाहिए' अथवा 'वचन–पालन करना चाहिए' अथवा 'उधार की वस्तु अवश्य वापिस करनी चाहिए' तो मैं कोई नई बात नहीं कहूँगा। क्योंकि कर्त्तव्य, वचन, अथवा उधार आदि शब्द स्वयं ही स्पष्ट हैं, अतः इन्हें किसी अन्य वाक्य की आवश्यकता ही नहीं है। यहां पर मेरा यह तात्पर्य नहीं है कि इस प्रकार के वाक्य असंगत हैं अथवा अर्थहीन हैं या व्यर्थ हैं। यहां पर मेरा विशेष प्रयोजन यह संकेत करना मात्र है कि इस प्रकार के वाक्य नए अर्थ के द्योतक नहीं होते। यह अर्थपूर्ण हो सकते हैं जब मुझे इन प्रत्ययों के अर्थ का किसी के सम्मुख विवेचन करना हो। किन्तु उस अवस्था में प्रकृति को निर्दिष्ट करने का प्रश्न ही नहीं उठता है।

यदि 'मैं क को स्वीकार करता हूँ ऐसा ही तुम करो' वाक्य का तात्पर्य है कि "मैं क के प्रति अपनी व्यक्तिगत प्रवृत्ति को प्रकट करता हूँ, तथा आकांक्षा करता हूँ कि अन्य भी ऐसी ही प्रवृत्ति रखें" तो उस अवस्था में क का अपना व्यक्तिगत महत्व नहीं रह जाता है। यहां पर प्रश्न क से सम्बन्धित न होकर मेरी व्यक्तिगत प्रवृत्ति से सम्बन्धित है। स्पष्टतः यह वाक्य आत्म–निष्ठ बन जाता है। यदि कोई व्यक्ति 'आत्मनिष्ठ' शब्द के प्रयोग को स्वीकार करने में हिचकिचाएं तो मैं कह सकता हूँ कि यह वाक्य पूर्णरूपेण आत्मनिष्ठ नहीं है क्योंकि यह क व्यक्ति के सम्बन्ध में है। किन्तु ऐसा करने से कोई विशेष परिवर्तन नहीं होता है, क्योंकि प्रत्येक आत्मनिष्ठ वाक्य किसी न किसी तथ्य के सम्बन्ध में होता है। मैं इसे आत्मनिष्ठ कहता हूँ क्योंकि यहां पर क के मूल्य–निर्धारण में व्यक्तिगत मनोवैज्ञानिक तत्व प्रधान हैं, इसके आधार पर यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि नैतिक–निर्णय में असहमति अथवा सहमति तथ्यात्मक न होकर भावनात्मक होती है।

अस्तु, दोनों ही व्याख्याएं नीतिशास्त्र के लिए आत्मसंघातक हैं। प्रथम में किसी वस्तु का मूल्य पूर्णरूपेण वस्तु के गुणों पर निर्भर है एवं ऐसी स्थिति में आदेशात्मक वाक्य

प्रासंगिक नहीं रह जाता है। तथा दूसरे में वस्तु का मूल्य मुख्यरूप से आत्मनिष्ठ तत्वों पर आधारित है। परिणाम स्वरूप आदेशात्मक वाक्य मात्र थोथा आदेश रह जाता है।

आई० आई० टी०,
कानपुर

पुस्तक समीक्षा

दिल्ली दार्शनिक वार्तालाप की विवरणिका

(प्रोसीडिंग्ज आफ दिल्ली फिलोसोफीकल कोलोक्यिम)

नई दिल्लीः इंडिया इण्टर्नेशनल सेंटर, ४० लोदी एस्टेट; पृष्ठ सं० १४२, मूल्य रु. ६=०० ।

१

प्रस्तुत पुस्तक उस दार्शनिक विचार गोष्ठी एवं वार्तालाप का विवरण उपस्थित करती है जिसका आयोजन नई दिल्ली स्थित भारत अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्र एवं दिल्ली विश्वविद्यालय के संयुक्त तत्वावधान में हुआ। यह 'बौद्धिक सह भोज' १० से १६ अक्तूबर (१६६२) तक चला, जिसमें भारत के विभिन्न क्षेत्रों के कतिपय दर्शन के अध्येताओं एवं विद्वानों ने सक्रिय भाग लिया। पुस्तक में द्वादश निबंधों को सम्पूर्ण रूप में प्रकाशित किया गया है, किन्तु इनमें से अन्तिम तीन, अर्थात् 'इच्छित एवं उत्तम', 'दर्शन का स्वरूप—दर्शन की अवधारणा का विश्लेषण' एवं 'तर्कशास्त्र और अस्तित्वमीमांसा' किसी बैठक में नहीं पढ़े गए और न ही इन पर विचारविमर्श हुआ। अतः हम अनुमान कर सकते हैं कि इनके लेखक क्रमशः श्री अबू सैय्यद अय्यूब, कालीकृष्ण बैनर्जी, एवं शिवजीवन भट्टाचार्य अनुपस्थित रहे। किन्तु विषय सूची एक और रूप में भी अपूर्ण है क्योंकि यह हमें यह नहीं बतलाती कि गोष्ठी की बैठकों में श्री के. सच्चिदानन्द मूर्ति ने 'रहस्यमय ज्ञानातीत' (दि मिस्टीरियस ट्रांसेंडेंट) और श्री मैक्स ब्लैक ने 'अबद्ध अवधारणाओं का न्याय' (दि लोजीक आफ लूस कांसेप्ट्स) एवं 'वैज्ञानिक मैक्स व्याख्या का स्वरूप' (नेचर आफ साइंटीफिक मैक्स कांसेप्ट्स) लेख पढ़े।

पुस्तक में डा. राधाकृष्णन् का सन्देश, उद्घाटन समारोह की रिपोर्ट, श्री एन. वी. बनर्जी का आरम्भिक व्याख्यान, द्वादश निबंधों का पूरा मसविदा, विचार विमर्श की रिपोर्ट, प्राक्कथन एवं परिशिष्ट हैं। परिशिष्ट में हमें चौदह व्यक्तियों का स्वल्प परिचय भी प्राप्त होता है। इस परिचय में जो एक बात हमारा ध्यान साग्रह अपनी ओर आकर्षित करती है वह यह है कि केवल एक व्यक्ति (श्री कालीकृष्ण बनर्जी) को छोड़कर किसी ने भी अपनी अभिरुचि भारतीय दर्शन में व्यक्त नहीं की है। यह केवल खेद का विषय न होकर आश्चर्य का विषय भी है और भारत में दर्शन की स्थिति का द्योतक है।

२

वैसे तो प्रत्येक पुस्तक का सिंहावलोकन कठिन कार्य है किन्तु इस पुस्तक के सिंहावलोकन की कठिनाई दो बातों से और बढ़ गई है। एक तो इसमें हमें पन्द्रह भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के विचार उपलब्ध होते हैं और दूसरे अलग-अलग विषयों पर। और साथ ही हम चाहते हैं कि प्रत्येक के साथ समुचित न्याय हो, उसे अपेक्षित प्रतिनिधित्व मिले और समीक्षा का कलेवर

भी छोटा हो।

सर्वप्रथम यह प्रश्न उठाया जाना चाहिए कि दर्शन क्या है ? अर्थात् उसकी परि-भाषा, उसके स्वभाव, उद्देश्य, कार्यक्षेत्र, और उसकी रीति पर विचार किया जाना चाहिए। इस प्रकार का प्रयत्न अपने तरीके से श्री एन. के. देवराज ने अपने लेख 'दर्शन की परिभाषा के लिए कुछ टिप्पणियाँ (सम नोट्स ऑन डिफाइनिंग फिलॉसोफी) में और (श्री कालीकृष्ण बनर्जी ने अपने पूर्व उल्लिखित लेख में किया है। श्री एन. वी. बनर्जी ने भी इसी सन्दर्भ में कुछ मत व्यक्त किया है। श्री देवराज विटगेन्स्टाइन के दर्शन के बारे में इस मत से प्रारम्भ करते हैं कि "दर्शन एक महत्वपूर्ण प्रलाप है" और वे एक ऐसा मानदण्ड खोजना या बनाना चाहते हैं जिससे दर्शन की किसी भी दी हुई परिभाषा का मूल्याङ्कन कर सकें। वे इसमें पूर्णतया असफल रहे हैं। उन्होंने दर्शन को निश्चित ही भाववादी तार्किकों (लोजीकल पोज़ीटिविस्ट्स) के चंगुल से मुक्त करने का प्रयास किया है जो दर्शन को विज्ञान का दास बना देते हैं, किन्तु स्वयं वे दर्शन को केवल नैतिक, धार्मिक एवं सौन्दर्यात्मक मूल्यों का मीमांसक (क्रिटीक आफ वेल्यूज़) मान कर वैसी ही भूल कर बैठते हैं। और फिर श्री ब्लैक ने ठीक ही कहा है कि यदि ऐसी मूल्यां की मीमांसा प्राप्त की जा सके तो वह प्रयत्न स्तुत्य ही है किन्तु अभी तक तो सभी असफल ही रहे हैं। क्रोचे, कालिङ्गवुड, कैसिरर आदि इस ओर केवल मात्र कार्यक्रम बनाकर ही रह गए हैं। श्री देवराज का अभिमत है कि दर्शन का कार्य साररूप है, वह देशकालातीत विषयों का अध्ययन है, और उसका रवैया अनुप-योगता है। यह ठीक है कि दर्शन एक बौद्धिक प्रवृत्ति होने के कारण स्वभावतः अनुपयोगी हो, किन्तु डा.देवराज यह सफल रूप से सिद्ध नहीं कर पाते कि उसे देशकालातीत ही होना चाहिए। उनका तर्क है कि चूँकि विज्ञान देशकाल से संबंधित है और दर्शन विज्ञान से भिन्न है या होना चाहिए अतः दर्शन देशकालातीत से संबन्धित है या होना चाहिए। परन्तु वस्तुतः यह एक अत्यन्त कमजोर युक्ति है। और फिर श्री देवराज से पूछा जा सकता है कि आप कौन से विज्ञान की बात कर रहे हैं ? वास्तव में शुद्ध विज्ञान भी उतना ही देशकालातीत होता है जितना दर्शन। यदि उसके प्रयोग उपयोगी होते हैं तो वह तो दर्शन के लिए भी उचित ही है। खैर, यहाँ हम इसकी चर्चा नहीं कर सकते।

श्री कालीकृष्ण बनर्जी के अनुसार "दर्शन व्यक्तिगत या वैयक्तिक है। उसका प्रारम्भ दुःख से या आन्तरिक व्यग्रता से होता है"। किन्तु केवल दुःख दर्शन को जन्म नहीं देता वरन् वह कुछ विश्वासों के साथ इसके जन्म का कारण बनता है जो प्रत्यक्षमूलक नहीं होते। दर्शन का उद्देश्य इस आन्तरिक व्यग्रता को समाप्त कर स्वरूपस्थिति प्राप्त करना अथवा साधक को परमात्मा में स्थित करना होता है। श्री बनर्जी के अनुसार दर्शन का यह भारतीय दृष्टि-कोण है। यहां यह स्पष्ट है कि श्री बनर्जी का मत सर्वथा अबौद्धिक है क्योंकि वे दर्शन का लक्ष्य स्वस्वरूप में स्थिति आदि घोषित करते हैं जो धर्म या योग-साधानादि का विषय भले ही हो दर्शन का तो नहीं हो सकता, न ही होना चाहिए। उनकी दर्शन की परिभाषा एवं कार्यक्षेत्र अत्यन्त संकीर्ण हैं क्योंकि यह अधिकांश भारतीय दार्शनिकों को भी दार्शनिक के

पद से च्युत कर देगा। सम्पूर्ण भारतीय दर्शन को ऐसा मानकर वे उसके प्रबल बौद्धिक पक्ष के साथ अन्याय कर रहे हैं। न्याय, बौद्ध, जैन, सांख्य, मीमांसा, वेदान्तादि के समृद्ध बुद्धिपरक साहित्य की उपेक्षा कर वे बौद्धिक ईमानदारी की हत्या कर रहे हैं जो किसी भी दर्शन के विद्यार्थी के लिए अनुचित है।

शेष लेख विभिन्न दार्शनिक समस्याओं पर हैं। सर्वप्रथम लेख प्रो. जितेन्द्रनाथ मोहन्ती का 'प्रदत्त' पर है। श्री मोहन्ती का कथन है कि बाह्य वस्तु-जगत् एवं मनुष्य तो व्यावहारिक रूप में प्रदत्त हैं किन्तु संवेद विषय एवं द्रष्टा विषयी चिन्तन की विधा में प्रदत्त हैं। किन्तु वस्तुतः यह नहीं कहा जा सकता कि क्या संवेद प्रदत्त है, क्योंकि मेज़ादि वस्तुएं और रामादि मनुष्य प्रदत्त नहीं हैं। हम इन्हें केवल इनके प्रत्ययों द्वारा जानते हैं जो इनका प्रतिनिधित्व करते हैं। ह्यूम, ब्रेन्टानो, माइनाङ्ग आदि इस शाखा के दार्शनिक थे। इनके विपरीत दूसरी विचार प्रणाली के मानने वालों का कथन है कि हम सीधे बाह्य वस्तुओं को जान लेते हैं, अन्यथा हम उन्हें किसी भी तरह कभी भी न जान पायेंगे। पर्स आदि इस के प्रतिपादक हैं। अब यदि पहिले प्रकार के दार्शनिक मानसिक प्रत्ययों के द्वारा भौतिक वस्तुओं के जानने का दावा करें तो वह सर्वथा दोषरहित नहीं होगा। बहुत से दार्शनिकों ने इसकी खूब आलोचना की है। मेज के प्रत्यय को जानकर हम कैसे कह सकते हैं कि एक देशकालावस्थित भौतिक मेज का अस्तित्व है। जब मेज को कमरे में कोई नहीं देख रहा होता तब मेज है या नहीं, यह समस्या पूर्णतया बौद्धिक है। अब यदि कहें कि "है" तब तो यह पूछा जायगा कि इसमें क्या प्रमाण है कि वह है क्योंकि उसका कोई साक्षी तो है नहीं, और यदि कहा जाय कि नहीं है, तो यह भी कैसे कहा जा सकता है? दूसरे, यदि वह नहीं था तो किसी के जाकर देखने पर कहां से आ गया? इस तरह के अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं जिनके विरुद्ध और पक्ष में अनेकों दार्शनिकों ने युक्तियुक्त तर्क दिये हैं।

अब यह प्रश्न भी उठाया जा सकता है कि मेज के प्रत्यय (मानसिक) और मेज (भौतिक) में क्या सम्बन्ध है? क्या दोनों सर्वथा भिन्न हैं? यदि हां, तो हम कैसे भौतिक वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं और यदि नहीं तो हम कैसे इनके बीच की स्पष्ट दिखाई देने वाली खाई को पाट सकते हैं? ये प्रश्न दर्शन के सनातन प्रश्न हो गये हैं। इनका अन्तिम और निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकेगा और इसीलिए दार्शनिक चिन्तन चिरस्थायी है, वह अबाध गति से चलता रहेगा। पर्स ने ठीक ही कहा था कि हम कभी भी आत्यन्तिक निश्चितता, आत्यन्तिक सामान्यता और आत्यन्तिक समीचीनत्व प्राप्त नहीं कर सकते; और यह ठीक भी है, अन्यथा हमारे पास कुछ न करने को शेष बचेगा।

विभिन्न दार्शनिकों ने दार्शनिक समस्याओं पर प्रारम्भ से ही अपने विभिन्न मत प्रस्तुत किये हैं। किसी ने केवल "मानसिक" को माना है, किसी ने केवल "भौतिक" को, तो किसी ने दोनों अवधारणाओं को आवश्यक माना है। श्री यशदेव शल्य और श्रीमती प्रतिमा बोवास अन्तिम प्रतिज्ञा को मानने वाले हैं। इन दोनों का मत है कि हमें भौतिक और मानसिक दोनों को मानना चाहिए और किसी को एक-दूसरे में नहीं घटाना चाहिए अन्यथा हम आनुभविक जगत्

की सही व्याख्या नहीं कर सकेंगे। अरस्तू ने भी और देकार्त ने भी दोनों अवधारणाओं को मान्यता प्रदान की थी। यह सामान्य धारणा को भी सरलता से स्वीकार्य हो जायेगा। लेकिन बहुत से दार्शनिकों ने इस विचार के विरुद्ध मत व्यक्त किये हैं और इस प्रकार वे केवल मानसिक या केवल भौतिक से ही विश्व की व्याख्या कर गए हैं, कर रहे हैं।

श्री सी. टी. के. चारी ने इस मानसिक-भौतिक द्वैत के परे जाकर अपने लेख 'मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओं के लिए कतिपय यादृच्छिक ढांचे: मनस्-शरीर द्वैत के परे' (ऑन सम स्टोकास्टिक माडल्ज़ फार साइकोलोजीकल प्रोसेसिज़: बीयोंड दि माईंड बोडी डुअलिज़्म) में कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं जो हमें किसी तरह भी उस द्वैत के परे नहीं ले जाते। यह लेख बहुत तकनीकी है और उस तकनीक से अभिज्ञ विद्वानों को ही सम्यक्तया गम्य हो सकता है।

श्रीमती मार्गरेट चटर्जी ने यह बतलाने का प्रयास किया है कि कल्पना का तात्त्विक चिन्तन में महत्वपूर्ण स्थान है जिसका अध्ययन तत्व चिन्तकों के द्वारा किये गये अलङ्कारों के प्रयोगों से किया जा सकता है। अतः ऐसे कल्पनाजनित वाक्यों को प्रमाणित करने का प्रयास उनके मत में व्यर्थ एवं निरर्थक है।

इसके अतिरिक्त पुस्तक में चार निबन्ध आचार शास्त्र किंवा नैतकी पर भी हैं जिनमें से एक का उल्लेख हम प्रारम्भ में कर चुके हैं। शेष तीन राजेन्द्र प्रसाद, बी. एन. कौल एवं जे. डी. स्वामीदासन् के हैं। राजेन्द्रप्रसाद ने "नैतिकी, अतिनैतिकी, और नैतिक जीवन" (एथीक्स, मेटाएथीक्स एंड मोरल लाइफ) में नैतिकी और अतिनैतिकी पर विशद् चर्चा की है और इस विवेचन के सन्दर्भ में नैतिक जीवन में परिवर्तन की ओर भी ध्यान आकर्षित किया है। अतिनैतिकी नैतिक अवधारणाओं एवं निर्णयों अर्थात् नैतिक-भाषा का तार्किक विश्लेषण करती है। यह नैतिकी की भांति आदर्शक (नार्मेटिव) भी हो सकती है। कौल ने 'नैतिक निर्णयों की व्याख्या' में कहने की चेष्टा की है कि हमें अपने नैतिक निर्णयों की युक्तियुक्त व्याख्या करनी चाहिए। इनका मुख्य कार्य व्यवस्था करना है। श्री स्वामीदासन् ने 'एकीकत नैतिकी' (यूनीफाइड एथीक्स) में कहा है कि हमें अतिनैतिकी और नैतिकी का तादात्म्य नहीं करना चाहिए। उनके मत में नैतिक विचारविमर्श न तो निगमनात्मक है और न आगमनात्मक। हमें जीवन में प्रत्येक कदम पर निर्णय लेना पड़ता है, चुनना पड़ता है और हमारी नैतिकी इसी पर निर्भर करती है कि हम क्या चुनते हैं। श्री अय्यूब के मत में हमें द्वैतवादी मूल्य के सिद्धान्त को अपनाना चाहिए अन्यथा इस अद्वैतवादी मूल्य के सिद्धान्त को मानकर अभिलषित एवं शुभ दोनों के साथ समुचित न्याय नहीं कर पायेंगे क्योंकि मूल्यात्मक पैमाने पर एक सब से नीचे होगा और दूसरा सब से ऊपर।

श्री शिव जीवन भट्टाचार्य ने न्याय तथा अस्तित्वमीमांसा पर अपने विचार व्यक्त किये हैं। उनका मत है कि न्याय के सिद्धान्त सत्ता के ज्ञापक गुण हैं। तत्व अथवा याथार्य का स्वरूप युक्तियुक्त है और इसे शुद्ध बुद्धि द्वारा जाना जा सकता है। न्याय के इन नियमों को एक विशिष्ट तरीके से जाना जाता है। श्री मूर्ति एवं श्री ब्लैक के निबन्ध मूल रूप में उपलब्ध नहीं हैं अतः उन पर कुछ नहीं कहना ही उचित होगा।

अन्त में हम यह कहना चाहते हैं कि यद्यपि पुस्तक में सर्वथा मौलिक अथवा नवीन जैसा कुछ नहीं है तथापि पुस्तक पठनीय है, विशेषतया इसलिए कि अन्त में अधिकांश लेखों पर विभिन्न भागीदारों द्वारा विचारविमर्श में भाग लिया गया है, प्रश्न पूछे गये हैं। इससे दर्शन के विद्यार्थी यह सीख सकते हैं कि विचार गोष्ठी में किस प्रकार समस्यायें और प्रश्न उठाए जाते हैं और वादविवाद को किस तरह केन्द्रित किया जाता है।

रमेशचन्द्र
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

मॉरल फिलोसोफी : ग्रीन एण्ड गीता, लेखक डा० हृ० ना० मिश्र,

प्रकाशक किताब घर, कानपुर; पृष्ठसंख्या २४६, मूल्य २० रु० ।

प्रस्तुत पुस्तक आगरा विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत एक शोध-प्रबन्ध है। इसमें अंग्रेज़ दार्शनिक थामस हिल ग्रीन और भगवद्गीता के नीतिदर्शन का तुलनात्मक अनुशील है। संपूर्ण पुस्तक आठ अध्यायों में लिखी गयी है। पहले अध्याय में नीतिशास्त्र के स्वरूप और प्रश्न, नीतिशास्त्र की मान्यताएँ, नीतिशास्त्र और तत्त्वदर्शन का सम्बन्ध और मानव जीवन के लिए नीतिशास्त्र का महत्त्व विवेचित हैं। किन्तु ये विवेचन न तो ग्रीन के दृष्टिकोण से हैं और न गीता के दृष्टिकोण से तथा न दोनों के समन्वित दृष्टिकोण से। ये बिल्कुल सामान्य विवेचन हैं और शोध-प्रबन्ध के प्रतिपाद्य विषय से असंबन्धित हैं। नीतिदर्शन तथा तत्त्वदर्शन का सम्बन्ध ग्रीन तथा गीता दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण है। लेखक ने आगे दिखलाया है कि दोनों के नीतिशास्त्र तत्त्वदर्शन पर आधारित हैं। किन्तु उसने इस प्रश्न का तर्कपूर्ण समाधान नहीं किया कि क्यों नीतिदर्शन तत्त्वदर्शन पर आधारित हो। फिर उसने इस प्रश्न को उठाया तक नहीं कि नीतिदर्शन स्वयं तत्त्वदर्शन का आधार है, जैसाकि प्लेटो ने दिखाया है। दूसरे अध्याय में ग्रीन के नीतिदर्शन की पृष्ठभूमि का विवेचन है। इसमें बताया गया है कि ग्रीन के अनुसार मनुष्यों का तथा प्रकृति का आधार एक अपरिवर्तन-शील तथा नित्य चैतन्य है जो अपने को सभी मनुष्यों तथा प्राकृतिक वस्तुओं में अभिव्यक्त करता है। फिर कहा गया है कि मनुष्य की स्वतन्त्रता इच्छा-स्वतन्त्रता है और इच्छा-स्वतन्त्रता वास्तव में चैतन्य या ज्ञान की स्वतन्त्रता है। किन्तु इच्छा और ज्ञान के द्वैत का, जिसे काण्ट ने उठाया और ग्रीन ने दूर किया, समाधानपूर्वक विवेचन नहीं है, यद्यपि यह ग्रीन के नीतिदर्शन का एक महत्त्वपूर्ण विषय है।

तीसरे अध्याय में ग्रीन के नीतिदर्शन का वर्णन है। इसमें आत्म-लाभ का आदर्श, सर्वगत कल्याण का आदर्श, सुखवाद तथा उपयोगितावाद की आलोचना, सद्गुण की अव-

धारणा तथा नैतिक प्रगति विवेचित हैं। ग्रीन के अनुसार आत्म-लाभ मानवमात्र का आदर्श है, आत्मा समस्त प्रकार के श्रेय का आश्रय है और श्रेय सर्वदा सर्वगत है। सद्गुण वह है जो सर्वगत है। वह आजानिक (इन्नेट) है। प्रगति निम्नतर श्रेय से उच्चतर श्रेय की ओर गति है। इन सिद्धान्तों का विवेचन लेखक ने ठीक किया है। किन्तु आत्म-लाभ तथा सर्वगत कल्याण या श्रेय को वह दो विभिन्न आदर्श-प्रकार समझता है जो उसकी भूल है। फिर उसने यह नहीं स्पष्ट किया कि जीवात्मा और परमात्मा में से श्रेय का आश्रय कौन है? ग्रीन के भाष्यकारों में इस मत पर विवाद है[१] जिसका विवेचन प्रस्तुत पुस्तक में होना आवश्यक था। सर्वगत श्रेय की अवधारणा का भी स्पष्ट विवेचन लेखक ने नहीं किया है।

चौथे अध्याय में गीता के नीतिशास्त्र के दार्शनिक आधार का विवेचन है। यह अध्याय अत्यन्त असंगत है। यहां एक ओर जीवात्मा को ब्रह्म से अभिन्न माना गया है तो दूसरी ओर उसे ब्रह्म का अंश कहा गया है। प्रकृति का भी निरूपण गलत है। लेखक गीता के अनेक भाष्यों में उलझा प्रतीत होता है। उससे वह गीता का कोई सुव्यवस्थित तत्त्वदर्शन निकालने में असमर्थ रहा है। मेरे विचार से गीता के नीतिशास्त्र के दार्शनिक आधार हैं (१) आत्मा की अजरता-अमरता, (२) प्रकृति की नित्य परिवर्तनशीलता, (३) ईश्वर का अन्तर्यामी होना तथा (४) आत्मा या पुरुष का ईश्वरीय कार्यों का निमित्त मात्र होना।[२] फिर लेखक ने गीता के अनुसार मानव-स्वतन्त्रता का भी गलत अर्थ किया है। वह कहता है कि उच्चतर दृष्टिकोण से गीता नियतिवाद को मानती है और निम्नतर दृष्टि से यदृच्छावाद को। किन्तु वास्तव में गीता आत्मा को नित्य स्वतंत्र और देह को नित्य परतन्त्र मानती है। लेखक के शब्दों में कहा जाय तो गीता उच्चतर दृष्टिकोण से यदृच्छावाद को मानती है और निम्नतर दृष्टिकोण से नियतिवाद को।

पांचवें अध्याय में गीता के नीतिशास्त्र का विवेचन है जिसमें अनेक असंबद्ध विषयों का एकत्र जमघट है। यहां कहा गया है कि आत्म-लाभ जीवन का उच्चतम लक्ष्य है; यद्यपि आत्मा के अतिरिक्त ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। यदि ईश्वर आत्मा के अतिरिक्त है तो जीवन का उच्चतम लक्ष्य ईश्वर-लाभ है नकि आत्म-लाभ। फिर आत्म-लाभ को निर्वाण से अभिन्न किया गया है और बोधिसत्व तथा स्थितप्रज्ञ को एकसमान आदर्श समझा गया है। ये दोनों मत निराधार हैं। स्थितप्रज्ञ और आत्म-लाभ का संबंध अनिर्णीत रखा गया है। गीता के भाष्यकारों में इस विषय पर विवाद है। कुछ लोग स्थितप्रज्ञ को मुक्त मानते हैं और कुछ लोग साधक। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में ज्ञानमार्ग, भुक्तिमार्ग और धर्ममार्ग के जो विवेचन हैं वे अपर्याप्त और असंबन्धित हैं। लेखक ने गीता को अनेक नैतिक सिद्धान्तों का अजायबघर समझ रखा है और उसमें

---

१ देखिए नीतिशास्त्र का सर्वेक्षण, संगमलाल पाण्डेय पृ० ३२१।

२. वहीं।

से उसने कोई एक सुव्यवस्थित नीतिशास्त्र नहीं निकाला है। वह कहता है कि गीता में नीतिदर्शन का सुव्यवस्थित विवेचन नहीं है, जो वस्तु–तथ्य है, किन्तु शोध–छात्र के रूप में उसे गीता के नीतिदर्शन को सुव्यवस्थित रूप प्रदान करना था। बिना इस रूप के गीता के नीतिदर्शन की तुलना ग्रीन के नीतिदर्शन से करना असंभव है। यदि गीता का नीतिदर्शन सुव्यवस्थित नहीं हो सकता तो फिर उसकी तुलना किसी अन्य नीतिदर्शन से करना निरर्थक है।

छठे अध्याय में गीता और ग्रीन के नीतिदर्शन की अनेक समानताएं और असमानताएं बतायी गयी हैं। दोनों को प्रत्ययवादी कहा गया है। लेखक ने प्रत्ययवाद और अध्यात्मवाद का अन्तर स्पष्ट नहीं किया है। ग्रीन केवल अध्यात्मवादी है और प्रत्ययवादी नहीं है। असमानताओं के वर्णन में कहा गया है कि सर्वगत कल्याण का प्रत्यय गीता में नहीं मिलता है (पृ० २१८) और यह प्रत्यय ग्रीन के नीतिदर्शन का आधारभूत है। लेखक के मत से यह ग्रीन के नीतिदर्शन को गीता के नीतिदर्शन से बेहतर बनाता है। (पृ० २१८) किन्तु वह लोकसंग्रह की भावना और 'सर्वभूतहिते रताः' के सिद्धान्त को सर्वगत कल्याण के समीप मानता है।

सातवें अध्याय में पहले ग्रीन के नीतिशास्त्र की समीक्षा की गयी है और बाद में गीता के नीतिशास्त्र की। रैशडल की पुस्तक को पठित पुस्तकों की सूची में रखा गया है किन्तु रैशडल ने ग्रीन के सर्वगत कल्याण की जो विशद आलोचना की है उसका कहीं वर्णन नहीं है और न उस आलोचना का उत्तर ही दिया गया है। लेखक ने ग्रीन के तत्त्वदर्शन की आलोचना अधिक की है जो प्रत्ययवाद के विषय में उसकी नासमझी को ही अधिक बताती है, और उसके नीतिदर्शन की आलोचना कम की है। वह मानता है कि ग्रीन की प्रमुख देन सर्वगत कल्याण का प्रत्यय है। किन्तु वह कहता है कि सामाजिक श्रेय और वैयक्तिक श्रेय को एकार्थक कहना कठिन है (पृ० २३३)। इतना होते हुए भी न जाने क्यों वह ग्रीन के दर्शन को वर्त्तमान काल में अनिवार्य समझता है (पृ० २३४)। फिर गीता के नीतिशास्त्र की आलोचना में वह कुछ नहीं कहता है। उलटे वह पक्षपातपूर्ण ढंग से उसका अनुमोदन करता है।

अन्त में निष्कर्ष है जिसमें कहा गया है कि आज–कल नैतिक संकट है और इस संकट की एकमात्र दवा गीता तथा ग्रीन के नीतिदर्शन हैं। अन्य नीतिदर्शनों के रहते क्यों ये ही दो नीतिदर्शन वर्त्तमान नैतिक संकट की दवा हैं? इस प्रश्न का उत्तर लेखक ने नहीं दिया है। फिर उसने ग्रीन और गीता के नीतिदर्शन को एकरूप भी नहीं पाया है। अतः क्यों वह दोनों को एकसमान रूप से नैतिक संकट की दवा बताता है? उसने दोनों में से एक को दूसरे से सर्वथा बेहतर भी नहीं बताया है। ऐसी परिस्थिति में वर्त्तमान संकट को दूर करने वाले डाक्टर के रूप में उसका प्रस्ताव 'नीम हकीम खतरा जान' ही है।

संपूर्ण प्रबंध में विचार की अपरिपक्वता झलकती है। विषयों का वर्गीकरण और प्रतिपादन बताता है कि लेखक दो विषयों को पृथक्–पृथक् समझ कर उनकी समानता तथा असमानता खोजता है। क्या यही तुलनात्मक दर्शन है? क्या यही दार्शनिक कर्म है? क्या यह

चिन्तन को अग्रसर करता है ? इन प्रश्नों पर विचार करने पर पता चलेगा कि लेखक का कार्य इनका उत्तर निषेध में देता है। लेखक का कर्त्तव्य था कि वह ग्रीन और गीता के नीति-दर्शन को एक दूसरे से अनुपूरित और समन्वित करने का प्रयास करता जो उपर्युक्त प्रश्नों का उत्तर हां में देता। यह कर्म लोकमान्य तिलक ने अपने गीतारहस्य में गीता तथा काण्ट और ग्रीन के तुलनात्मक विवेचन के द्वारा किया है। लेखक ने कई जगह गीतारहस्य का प्रयोग किया है किन्तु उसने उन स्थलों का तनिक भी उल्लेख नहीं किया है जहां तिलक ने गीता और ग्रीन के नीतिदर्शन का तुलनात्मक अनुशीलन दिया है। मेरे विचार से, ये स्थल लेखक को अपने प्रबंध में रखने थे और उनका संशोधन-परिवर्धन करना था। तिलक ने लिखा है "यह बात ध्यान देने योग्य है कि ब्रह्म, आत्मा, माया, आत्म-स्वातंत्र्य, ब्रह्मात्मैक्य, कर्मविपाक इत्यादि विषयों पर हमारे वेदान्तदर्शनां के (जिसमें वे गीता को भी रखते हैं) जो सिद्धान्त हैं वे काण्ट और ग्रीन के सिद्धान्तों से भी बहुत आगे बढ़े हुए तथा अधिक निश्चित हैं"।[३] तिलक ने गीता के अध्यात्मवाद, हेतुवाद ("हेतु" नैतिक निर्णय का विषय है), प्रामाण्यवाद (सत्य की कसौटी), ब्रह्मात्मैक्यवाद और आत्म-स्वातन्त्र्यवाद को ग्रीन के इन सिद्धान्तों से मिलान करके सिद्ध किया है कि इन सिद्धान्तों की आवश्यकता है और इनको समझने के लिए ग्रीन का दर्शन पढ़ना चाहिए। तिलक का यह कर्म दार्शनिक कर्म है। मेरे विचर से आलोच्य ग्रन्थ के लेखक ने तिलक जैसा दार्शनिक कर्म नहीं किया है। वह समानताओं और असमानताओं का संग्रहालय बनाता है और उसके आधार पर वह निष्कर्ष पर नहीं पहुँचता है।

लेखक की भाषा प्रौढ़ नहीं है। प्रतिपादन शैली अनावश्यक उद्धरणों से भरी है। उपनिषदों के उद्धरण प्रस्तुत पुस्तक में वस्तुतः अनावश्यक हैं क्योंकि लेखक का कार्य यहां गीता और उपनिषद् का संबन्ध दिखाना नहीं है। छापे की भूलें भी बहुत हैं। मूल्य पुस्तक की पृष्ठ संख्या, सामग्री तथा महत्त्व की दृष्टि से बहुत अधिक है।

संगमलाल पांडेय
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

सैक्युलरिज़्म एण्ड मैटीरियलिज़्म इन माडर्न इंडिया

(आधुनिक भारत में धर्मनिरपेक्षवाद व भौतिकवाद)

लेखक- डा० ब्रजगोपाल तिवारी; जबलपुर, कोओपरेटिव प्रिंटिंग एंड पब्लिशिंग सोसाइटी लिमिटिड, पृ० सं० ३५४, मूल्य रु० १०-००।

प्रस्तुत पुस्तक की रचना एक निश्चित चुनौति का प्रतिकार करने की दृष्टि से की गई है।

३. श्रीमद भागवद गीतारहस्य पृ० ७।

लेखक के मत में हमारे समक्ष आज जितनी भी आध्यात्मिक एवं सामाजिक समस्याएं हैं उसका कारण है पश्चिम से आने वाला भौतिकवाद तथा धर्म-निरपेक्षवाद। हमारी आज की संकटापन्न स्थिति के मूल में यही दो विचारधाराएं काम कर रही हैं जो एक-दूसरे की पूरक हैं। यदि हमें इस संकटापन्न स्थिति से मुक्ति पानी है तो, लेखक के मतानुसार, हमें वैदिक जीवन-दर्शन को पुनस्थापित करना होगा। केवल यही जीवन-दर्शन हमें इन विचारधाराओं से उत्पन्न समस्त बुराइयों से बचा लेगा और साथ ही नई समस्याओं को भी उत्पन्न नहीं करेगा।

लेखक के मतानुसार, आधुनिक भारत में दो विरोधी नैतिक सिद्धान्तों का संघर्ष चल रहा है, एक पश्चिमी भौतिकवादी—इहलोकवादी, दूसरी वैदिक। लेखक की राय में भौतिकवादी-इहलोकवादी सिद्धान्त को अपनाने से पाश्चात्य देशों में नैतिक अराजकता फैली है। लेखक को इस बात का दुःख है कि हमारे देश के नवयुवकों का मस्तिष्क भी इस विचारधारा से अत्यन्त दूषित हो रहा है। उसके अनुसार, यह हमारा दुर्भाग्य है कि राजा राममोहन राय, महादेव गोविन्द रानडे, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गांधी और जवाहरलाल नेहरु भी इस दूषित वायु से अछूते न रह सके।

लेखक का विश्वास है कि वैदिक सिद्धान्त न केवल हमारे देश की सभी समस्याओं को सुलझाने में पथ-प्रदर्शन कर सकते हैं वरन् सम्पूर्ण मानव समाज की समग्र समस्याओं का न केवल वर्त्तमान में अपितु दूरस्थ भविष्य में भी समाधान प्रस्तुत कर सकते हैं।

निस्सन्देह, आधुनिक युग में जीवन के दो भिन्न दृष्टिकोणों में संघर्ष चल रहा है। तथापि यह संघर्ष हमारे युग की विशिष्टता नहीं है। जब से मनुष्य ने होश सँभाला तब से यह संघर्ष चलता आ रहा है। वस्तुतः यह संघर्ष शरीर और आत्मा के मध्य है। इस संघर्ष के संदर्भ में यह सोचना कि पश्चिम शरीर के भोग को मान्यता देता है तथा भारत आध्यात्मिक तुष्टि को—निरी अल्पज्ञता है। आध्यात्मिक दृष्टिकोण वैदिक-दर्शन का एकाधिपत्य नहीं है। आरफियस, प्लेटो, प्लाटिनस तथा ग्रीन प्रभृति मनीषियों के विचारों में उतनी ही गहन आध्यात्मिकता मिलती है जितनी शंकर, रामानुज आदि दार्शनिकों में। पाश्चात्य संस्कृति को भौतिकवादी तथा भारतीय संस्कृति को आध्यात्मवादी समझना हमारी संकीर्णता का परिचायक है।

लेखक का यह दृढ़ विश्वास है कि चातुर्वर्ग का आदर्श भारतीय संस्कृति की विशेषता है। मेरे मत में चातुर्वर्ग के सिद्धान्त में प्रतिपादित-अर्थ, काम, धर्म एवं मोक्ष के आदर्श भारतीय संस्कृति की पश्चिम को कोई अभिनव देन नहीं है। अर्थ, काम व धर्म प्राचीन पाश्चात्य सभ्यता में उतने ही मान्य हैं जितने हमारी संस्कृति में। हां, मोक्ष की कल्पना हमारा मौलिक सिद्धान्त है। किन्तु, आध्यात्मिकता की खोज के चरम लक्ष्य का स्वरूप केवल मात्र मोक्ष ही हो सकता है, यह सोचना भूल है। प्लाटिनस, सेंट ऑगस्टाइन तथा सेंट थॉमस एक्वीनस ने आध्यात्मिकता की सार्थकता आत्मा की एक ऐसी अवस्था में मानी है जिसमें व्यक्ति ईश्वरत्व में लीन हो जाता है। आध्यात्मवादी के लिए यह आदर्श उतना ही प्रेरक है जितना मोक्ष का आदर्श।

आधुनिक युग में नैतिक एवं आध्यात्मिक पतन का कारण यह नहीं है कि आध्यात्मिक ज्ञान के मूल स्रोत शुष्क हो गये हैं अपितु यह है कि विज्ञान की उन्नति से भौंचक्का हुआ आज का मानव संभ्रम की सी अवस्था में है। आध्यात्मिक जीवन की प्रेरणा देने वाले स्रोत पाश्चात्य तथा भारतीय धर्म एवं दर्शन में समान रूप से पाये जाते हैं। अतः यह दावा करना कि सम्पूर्ण विश्व को आध्यात्मिकता का पाठ वैदिक दर्शन से सीखना है, संकीर्ण प्रादेशिकता की भावना का द्योतक है।

लेखक का मत है कि केवल वैदिकी चातुर्वर्गीय नैतिकता ही विश्व को समस्त नैतिक समस्याओं से मुक्त करने की रामबाण औषधि है। इस मान्यता में यह पूर्वकल्पना भी असंदिग्ध रूप से निहित है कि चातुर्वर्ग की यह वैदिक विचारधारा शंकराचार्य के अद्वैत दर्शन में ही प्रौढ़ व सम्यक् रूप प्राप्त कर सकी है। किन्तु लेखक की यह पूर्व-कल्पना गलत है। दुर्भाग्य से भारतीय विचारक प्रारम्भ से ही ऐसा सोचते रहे हैं कि भारतीय दार्शनिक चिन्तन एक अटूट अविरल धारा है जिसका उद्गम वेद है तथा जिसकी शंकर में पराकाष्ठा है। स्पष्ट ही लेखक भी इस गलत धारणा का शिकार है। 'वैदिक' पद स्वयं अपने में अस्पष्ट तथा छलमय है। वेदों में दो परस्पर विरोधी विचारधाराएं मिलती हैं : एक है संहिता व ब्राह्मणों की विचारधारा जो जीवन के प्रति अनुरक्त है। वेदों में जीवन के केवल तीन ही पुरुषार्थ माने गये हैं : अर्थ,काम तथा धर्म (कर्म-काण्ड, अध्यात्म नहीं)। 'मोक्ष' को जीवन का पुरुषार्थ स्वीकार नहीं किया गया है। परलोक में प्राप्य अमरता को माना गया है जो जीवन के प्रति तीव्र अनुरक्ति को तथा आनन्द को श्रेयस मानने का दूसरा रूप है। इस परम्परा में जीवन को दुःखमय नहीं माना गया है। यह परम्परा मीमांसा दर्शन में अपनी पराकाष्ठा को प्राप्त होती है। दूसरी विचारधारा है उपनिषदों की जो श्रमण परम्परा से प्रभावित है तथा पूर्वोक्त विचारधारा की विरोधी है। इसमें संसार को मिथ्या तथा जीवन को दुःखरूप माना है। अतः यह परम्परा जीवन से आत्यन्तिक रूप से विरक्त है। इसमें एकमात्र मोक्ष को ही श्रेयस माना गया है। जीवन से विरक्ति तथा मोक्ष को ही एकमात्र आदर्श मानना श्रमन परम्परा की मुख्य देन है। इस दृष्टि से उपनिषदों की परम्परा को अवैदिक अथवा वेद-विरोधी कहना ही अधिक उपयुक्त होगा। शंकर-दर्शन इसी परम्परा की चरम परिणति है। उन्होंने मोक्ष को ही एकमात्र आदर्श माना है तथा ज्ञान को उसकी उपलब्धि का एकमात्र साधन। जहां वे अर्थ, काम व धर्म की बात करते हैं वहां वे अविद्या के दृष्टिकोण की ही बात कहते हैं जिसका पारमार्थिक दृष्टिकोण में कोई स्थान नहीं। लेखक द्वारा इन विरोधी तत्वों को अभिन्न मान लेना एक बहुत बड़ी भूल है। उन्होंने जहां भी वैदिक नैतिकता की चर्चा की है वहां वे शंकर का नाम लेना नहीं भूले हैं। साथ ही जहां वे अर्थ, काम व धर्म की बात करते हैं वहां उन्होंने मोक्ष को भी साथ जोड़ दिया है। कदाचित् लेखक ऐसा आभास देना चाहते हैं कि वेदों में प्राप्य अर्थ, काम व धर्म के आदर्शों का नैसर्गिक प्रवाह धर्म तक आते-आते अवरुद्ध हो गया। इस प्रवाह को मोक्ष तक पहुँचाने में केवल मात्र थोड़ी-सी गति देने की आवश्यकता थी। वह गति उसे उपनिषदों के रचयिताओं से मिल गयी और इस प्रकार

अर्थ, काम, धर्म व मोक्ष की एक अविरल धारा बन गयी। किन्तु, उपनिषदोक्त मोक्ष का जीवन-दर्शन वैदिक जीवन-दर्शन से इतना भिन्न है कि इनका सामञ्जस्य हो ही नहीं सकता। यदि उपनिषदिक चिन्तन को उसकी चरम सीमा तक ले जाया जाय तो यह स्पष्ट विरोधाभास है। अर्थ, काम व धर्म मोक्ष-प्राप्ति में सहायक होने के स्थान पर बाधक ही अधिक सिद्ध होते हैं। शंकर ने इसे स्वीकार करके ज्ञान-मार्ग को ही मोक्ष का साधन बताया था। अर्थ, काम व धर्म को उन्होंने व्यावहारिक जीवन के निम्नतर स्तर पर स्थान दिया है।

लेखक का यह मत, कि जीवन के वैदिक पुरुषार्थों को मान लेने से केवल हमारी ही नहीं अपितु विश्व की समस्त समस्याओं का समुचित समाधान हो जायगा, अत्यन्त आश्चर्यकारक है। लेखक से हम इस अतिरिक्त साहसपूर्ण स्थापना की अपेक्षा नहीं करते। आज हमारी यह समस्या है कि भारत में जनतंत्र को कैसे सफल बनाया जाय। यदि वैदिक आदर्शों को हमारे समाज का आधार बनाया जायेगा तो जनतंत्र का असफल होना ही अधिक निश्चित है। जनतंत्र का आधारभूत सिद्धान्त यह है कि कानून के समक्ष सभी नागरिक समान हैं। किन्तु, हमारी प्राचीन दण्ड-नीति की आधारशिला ही असमानता थी। धर्मशास्त्रों में वर्णित हमारा सारा सामाजिक ढांचा वैयक्तिक असमानता के मूल पर आधारित था। यह कहना अत्युक्तिपूर्ण नहीं होगा कि समानता के सिद्धान्त से हमारा परिचय ही आंग्ल दण्ड-नीति ने कराया है। मनु ने तो स्पष्ट कहा था कि एक ही अपराध के लिए शूद्र और ब्राह्मण को समान दण्ड नहीं मिलना चाहिए। केवल मनु ही नहीं वरन् उनके पूर्ववर्ती एवं उत्तरकालीन सभी नीतिकारों ने असमानता को ही कानून का आधारभूत सिद्धान्त माना है। लेखक को भय है कि विधान-सभा, कार्यकारिणी व न्यायपालिका से धर्म का लुप्त होना हमारे वर्तमान के लिए तो हानिकारक है ही साथ ही यह हमारे भविष्य को भी अंधकारमय बना देगा। उसके मत में हमारी प्रगति तभी सम्भव है जब हम फिर से इन सभी संस्थाओं को धर्मसापेक्ष बना दें। इसके बिना हमारी मुक्ति असम्भव है। किन्तु लेखक ने धर्मनिरपेक्षता के सर्वमान्य अर्थ को ही विकृत कर दिया है। वे कहते हैं : धर्म निरपेक्षता का अर्थ धार्मिक सहिष्णुता नहीं है वरन् कर्म को दैवी स्वरूप प्रदान करना, आत्मतुष्टि, सफलता, प्रसिद्धि, उपलब्धि, संग्रह, उत्तेजना, साहस एवं धक्का देकर आगे बढ़ाना है" आदि। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से धर्मनिरपेक्षता का अर्थ केवल यही होगा कि धर्म के कर्म एवं राज्य के कर्म भिन्न हैं। राज्य के अंग न्याय, विधान-सभा तथा कार्यकारिणी को धर्म के अंकुश से मुक्त रखना ही धर्म निरपेक्षता है। हमें स्वयं को सौभाग्यशाली समझना चाहिए कि आज हमारे समाज की यह तीनों संस्थाएं धर्म निरपेक्ष हैं। यदि इन्हें फिर धर्म सापेक्ष बना दिया गया तो लोकतंत्र का भविष्य अंधकारमय हो जायेगा।

लेखक के मत में, एक न्यायसंगत समाज की स्थापना तभी सम्भव है जब व्यक्ति की वैयक्तिकता का दमन कर दिया जाय। लेखक के अनुसार वैयक्तिकता एक 'आसुरी सम्पदा' है जिससे समाज को अछूता रखना ही श्रेयस्कर है। किन्तु लेखक इस बात को बिल्कुल ही भूल गये हैं कि प्रत्येक व्यक्ति की वैयक्तिकता को पवित्र मानना आधारभूत महत्त्व का है। ऐसा समाज

जिसमें वैयक्तिकता को अश्रद्धा की दृष्टि से देखा जाय वह और कुछ भी हो एक न्यायसंगत और उदार समाज नहीं हो सकता। ऐसे न्यायसंगत समाज की स्थापना की विरोधी विचारधारा समाज की आवयविक (ऑर्गेनिक) विवेचना करने वाली विचारधारा है। लेखक के मत में समाज की आवयविक विवेचना ही आज के युग के लिए श्रेयस्कर है जिसे न केवल भारत को वरन् पश्चिम को भी अपनाना श्रेयस्कर है। समाज व्यवस्था की आवयविक विवेचना जो भ्रातृभावना, संघता व एकता जैसे नये मूल्यों की स्थापना करती है, लेखक के मतानुसार वेदों की पश्चिम को मौलिक देन है। इस पर भी आवयविकता की उत्कृष्टता को सिद्ध करने के लिए उन्होंने एक पाश्चात्य विद्वान् मैक्टेगार्ट का उद्धरण दिया है। इस प्रकार बैसाखियों के सहारे वैदिक दर्शन के सामर्थ्य को कहां तक सिद्ध किया जा सकता है यह भी विचारणीय है और इससे भी अधिक विचारणीय है वैदिक संस्कृति को वैयक्तिकता का दमन करने वाली कहना।

पुस्तक के अंतिम भाग में लेखक ने शुद्ध तत्व–दर्शन के एक मत का प्रतिपादन किया है कि "भौतिक वस्तुएं जब, जहां और यथार्थ में जैसी हैं वे वैसी ही जानी जा सकती हैं।" प्रथम तो इस प्रतिपादन की प्रासंगिकता का ही पता नहीं चलता। दूसरे, आइंस्टाइन के सापेक्षता–वाद के प्रतिपादन तथा उस पर हुए शोध–कार्यों के उपरान्त ऐसे अपरिपक्व यथार्थवाद का प्रतिपादन नितान्त असमीचीन प्रतीत होता है। पुस्तक की लेखन–शैली भी उसमें उठायी गयी दार्शनिक समस्याओं की दृष्टि से नितान्त अतार्किक तथा अनुपयुक्त है। लेखक को विशेषणों के प्रति मोह कुछ अधिक ही है। वह हर पद के साथ एकाधिक विशेषण जोड़ने को उद्यत रहता है।

पुस्तक को आद्योपान्त पढ़ जाने पर भी उसमें उठायी गई समस्याओं के समाधान में किसी मौलिक अन्तर्दृष्टि एवं विचार–सौष्ठव की उपलब्धि नहीं होती।

चांदमल शर्मा
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर

सामान्य मनोविज्ञान–लेखक आद्यप्रसाद श्रीवास्तव

पुस्तक स्थान, गोरखपुर १९६२, मूल्य रु० ७–००

प्रस्तुत पुस्तक इंटर तथा बी. ए. के विद्यार्थियों के लिये लिखी गयी है। परन्तु वैज्ञानिक पुस्तकों में प्रत्येक वाक्य नापतोल कर लिखा हुआ होना चाहिये और यह सावधानी इस पुस्तक के लेखक ने ग्रन्थ में सब जगह नहीं बरती है। उदाहरण के लिये आरम्भ में ही उन्होंने पाठकों से कहा है कि सामान्य मनोविज्ञान पर वैज्ञानिक और स्पष्ट भाषा में लिखी पुस्तकों का अभाव है और इस पुस्तक द्वारा इस अभाव की पूर्ति का

प्रयास किया गया है। किन्तु वास्तव में हिन्दी में अधिक मनोविज्ञान–ग्रन्थ अंग्रेज़ी में प्रकाशित प्रतिष्ठित पुस्तकों के आधार पर ही लिखे जा रहे हैं और इस लिये प्रायः वैज्ञानिक और स्पष्ट भाषा में तो होते ही हैं। आद्यप्रसाद जी को विशेष शिकायत औपन्यासिक एवं आलंकारिक शैली में लिखे गये ग्रन्थों के बारे में है। परन्तु ऐसी शैली में लिखने की सामर्थ्य भी और रुचि भी मनोविज्ञान के थोड़े ही लेखकों में है। फिर, स्वयं आद्यप्रसाद जी की पुस्तक में भी तो कम से कम अतिशयोक्ति अलंकार की भरमार है ही। इसका एक उदाहरण पुस्तक के आरम्भ में ही इस कथन में मिलता है कि पश्चिमी देशों में "सभी मनोविज्ञान की यथेष्ट जानकारी रखते हैं।"

पुस्तक में कहीं कहीं पर पारिभाषिक शब्द भी अनुपयुक्त हैं। जैसे, 'पश्चात् प्रतिमा' के स्थान पर 'उत्तर प्रतिमा' और 'भासमान गति' के स्थान पर 'गति विपर्यय' लिखना अधिक उपयुक्त होता। जहां तक हो सके हमें अपने साहित्य में पूर्व प्रचलित शब्द रचनाओं का अनुसरण करना चाहिये। साथ ही यह भी नहीं भूलना चाहिये कि अंग्रेज़ी भाषा में बहुत से अनुपयुक्त पारिभाषिक शब्द किसी ऐतिहासिक कारणवश देर से प्रचलित हैं। हिन्दी में उनके रूपांतर निर्धारित करते समय हमें अवसर है कि केवल उपयुक्त पारिभाषिक शब्दावली का प्रचलन करें। अंग्रेज़ी की अनुपयुक्त पारिभाषिक शब्द रचनाओं का हिन्दी में अन्धानुकरण मनोविज्ञान और हिन्दी दोनों के प्रति अपराध होगा।

अंग्रेज़ी भाषा में प्रचलित कुछ शब्द विन्यास हिन्दी में व्याकरण की दृष्टि से ठीक नहीं होते। आद्यप्रसाद जी ने अपनी पुस्तक में इस बात का भी पूरा ध्यान नहीं रखा है। जैसे, विषय सूची में ही अध्याय तीन के अंतर्गत एक विषय ऐसे लिखा है—"कान की रचना तथा विभाग, कार्य"। यहां शब्द 'विभाग' तथा शब्द 'कार्य' का लिंग 'की' के साथ मेल नहीं खाता। इसी प्रकार, शब्द 'तथा' 'विभाग' के पीछे आना चाहिये था। लेखक ने यह भी ध्यान नहीं रखा है कि पाठकों की सुविधा के लिये विषय सूची में दिये गये शीर्षक अध्यायों के अंदर भी उसी रूप में मिलें। अध्याय तीन में शीर्षक विषय सूची से नहीं मिलता।

विज्ञान की किसी भी पुस्तक में उसकी भाषा का त्रुटिमुक्त, उपयुक्त तथा अतिशयोक्ति मुक्त होना उस पुस्तक की वैज्ञानिकता का ही महत्त्वपूर्ण अंग है, यह ध्यान में रखने से ही हिन्दी का मनोविज्ञान साहित्य वह सम्मान एवं प्रतिष्ठा पा सकेगा जो अंग्रेज़ी भाषा के मनोवैज्ञानिक साहित्य को प्राप्त है।

राममूर्ति लूम्बा
लखनऊ विश्वविद्यालय
लखनऊ

Research Journal of Philosophy and Social Sciences

An International Bi-annual of Philosophy, Psychology, Sociology & Education. Published in October & April. Each issue contains about 200 pages on a particular subject.

General Editor : Dr. Ram Nath Sharma, Meerut College, Meerut (U P.) India.

Editorial Board : Gardner Murphy (U. S. A.), R. H. Thouless (Australia), H. H. Price (U.K.), B. L. Atreya (India) and more than a dozen scholars from different foreign countries.

Board of Representatives : Consists of representative scholars from a large number of Indian and forein universities.

Vol. I. No. 1. PARAPSYCHOLOGY AND YOGA Oct. 1963

Contains nineteen articles including contributions from eminent Indian and foreign scholars.

Vol. II. No. 2. INDIAN PSYCHOLGY Oct. 1964

Contains about one-and-a-half dozen articles including contributions from eminent Indian and foreign scholars.

Vol. II No. 1 HUMAN PERSONALITY April 1965

Vol. II No. 2 NATURE OF SELF Oct. 1965

Annual Subscription Rates : Rs. 15-00 Sh. 30 Dollars 3.50

Life Membership : Ten Years subscriction in advance.

Publishers : M/s. Kedar Nath Ram Nath Meerut (U.P) India.

Statement showing ownership and other particulars as required by rule 8 specified in form IV of the Registration of Newspapers (Central) Rules, 1956,

1. Place of publication.	**Faridkot.**
2. Periodicity of its publication	**Quarterly.**
3. Printer's Name. Nationality Address.	**Yash Dev Shalya.** **Indian.** **Secretary Akhil Bhartya Darshan Prishad, Faridkot.**
4. Publisher's Name. Nationality Address.	**As Above.** **As Above.** **As Above.**
5. Editor's Name. Nationality Address	**Yash Dev Shalya.** **Indian.** **Secretary,** **Akhil Bhartya Darshan Prishad, Faridkot.**
6. Name and address of individuals who own the Newspaper and partners or shareholders holding more than one percent of the total capital.	**The magazine is owned by Akhil Bhartya Darshan Prishad, Faridkot.**

I, Yash Dev Shalya hereby declare that the particulars given above are true and correct to the best of my knowledge and belief.

Sd. Yash Dev Shalya,
Publisher.

परिषत्-प्रकाशन

१. बौद्ध दर्शन तथा उसका विकास — पी. टी. राजू — मू० १-५०
२. अनुभववाद — (सं.) यशदेव शल्य — मू० ५-५०
३. दार्शनिक विश्लेषण — यशदेव शल्य — मू० १२-००
(डा. भगवान्दास पुरस्कार (रु. ५,०००/-) से सम्मानित)
४. समकालीन भारतीय दर्शन — (सं.) के. सच्चिदानन्द मूर्ति — मू० १२-००
५. भारतीय मनोविज्ञान — (सं.) नारायण शास्त्री द्राविड़ — मू० ६-००
६. नृतत्व तथा समाजदर्शन (१) — (सं.) दयाकृष्ण, सीताराम गोयल, यशदेव शल्य — मू० ८-००
७. नृतत्व तथा समाजदर्शन (२) — सं. दयाकृष्ण, गोविन्दचन्द्र पांडेय, सीताराम गोयल — मू० ८-००

यशदेव शल्य द्वारा अखिल भारतीय दर्शन परिषद्, फरीदकोट (पंजाब) की ओर से प्रकाशित
तथा गुरु अमृत प्रिंटिंग प्रैस, फरीदकोट में मुद्रित।